क बी र

डा० रामरतन भटनागर, एम० ए०, डी० फिल०

किताब महल • इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण, १९४८

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद
मुद्रक—गंगादीन जायसवाल, श्याम प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद

उन्हें

जो आज फिर कबीर के साथ
यह कहने का साहस कर रहे हैं
"हिंदू कहै मोको राम पिआरा,
तुरुक कहै रहिमानाँ।
आपुस में दोऊ लरि-लरि मुऐ,
मरम न काहू जानाँ॥"

कबीर

हमारे देश की सहस्रों वर्षों की धर्म-चेतना के इतिहास में कबीर का वही स्थान है जो ईसाई धर्म-चेतना के इतिहास में लूथर का है। धर्म-पंडितों और पोपों ने जनता के सामने ईश्वर, धर्म और लोक-कल्याण के नाम पर जो इन्द्रजाल फैला रखा था, उसके विरुद्ध कबीर ने अपनी सरल, तीखी और व्यंगप्राण आवाज उठाई। उनकी प्रतिभा के सूर्य ने उनके विरोधियों को चौंधिया दिया और वर्गद्वारा दलित समाज के सामने कल्याण के नये पथ प्रशस्त कर दिये।

कबीर का साहित्य सामान्य मानवता की कल्याण-भूमि पर खड़ा है। उसका एक ऐतिहासिक पहलू भी है। औपनिषदिक ऋषियों की निर्गुण, रहस्यवादी, आत्मपरक विचारधारा सिद्धों के काव्य और कबीर की वाणी में होती हुई आज भी हमें प्रभावित कर रही है। जहाँ सगुण विचारधारा ने राम और कृष्ण, शिव और शक्ति को केन्द्र बना कर उच्च वर्ग के हिन्दुओं में पौराणिकता का विस्तार किया, अनेक वर्णों और अनेक रूपरेखाओं में बँध कर साहित्य और कला की उच्चतम सृष्टियाँ हमें दीं, वहाँ कबीर और परवर्ती संतों की विचारधारा ने वर्णच्छटा-रहित केवल मात्र उज्ज्वल वर्ण से प्रदीप्त ऐसी शाश्वत

रचनाएँ उपस्थित कीं जो उच्च साहित्य और उच्च कला की सर्वमान्य भंगिमाओं में न बँध कर भी उच्चतम साहित्य और उच्चतम कला बन गईं। हिंदी के काव्य में सन्तकाव्य काव्य, साहित्य और कला की नई मान्यताएँ उपस्थित करता है।

'कबीर : एक आलोचनात्मक अध्ययन'—कबीर के काव्य को धर्म, साहित्य और इतिहास के भीतर से देखता है। कबीर के सम्बन्ध में खोजियों ने जो पता लगाया है, उसके आधार पर कबीर के बहुमुखी व्यक्तित्व को पकड़ने की यह भी एक चेष्टा है। आशा है, आलोचक-समाज इसे इसी रूप में देखेगा।

प्रयाग,
२० नवम्बर, १९४९

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

१

कबीर का युग

तांत्रिक काल के अंत में ११९३-१२०६ के अंतर्गत हमारी राजनीतिक सत्ता विदेशी शासकों के अधीन हो गई। इसके पश्चात् उत्तरी भारत पर दो राजवंशों का राज रहा। ११०६ से १५५६ तक सुलतानवंश और तदुपरान्त मुगलवंश। इसके अतिरिक्त दिल्ली के केन्द्र में विदेशी शासकों की ही शक्ति रही, परन्तु समस्त राजपूताना, बुन्देलखंड, बघेलखंड आदि में हिन्दू शासकों का ही राज रहा। अतएव आधे उत्तर भारत में स्वदेशी राज्य थे। देशी शासक पूर्णतया लुप्त नहीं हुए थे। यद्यपि दिल्ली के साम्राज्य के अंतर्गत बसने वाली प्रजा राजनीतिक दृष्टि से विदेशी सत्ता के अधीन थी। क्योंकि ग्रामीण जनता विदेशी सत्ता के सम्पर्क में नहीं आ सकी थी। सन् १५२७ में राजनीतिक क्षेत्र में परिवर्तन हुआ। अंतिम सुलतान इब्राहीम लोदी के समय में बाबर का आक्रमण हुआ और पानीपत के क्षेत्र में उसकी विजय से मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई।

संस्कृति की दृष्टि से सुलतानों ने भारतीय संस्कृति को समझने का प्रयत्न नहीं किया और न उन्होंने उसमें हस्तक्षेप किया परन्तु बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू जनता धर्म परिवर्तन करके मुसलमान हो गई जिसके फलस्वरूप मुसलमानों के भी दो दल—विदेशी मुसलिम और नवमुसलिम हो गये। शासकों को भारतीय संस्कृति के प्रति सहानुभूति नहीं थी।

सामाजिक परिस्थिति अत्यन्त जटिल हो गई थी। मुसलमानों के आक्रमण के पहले ही व्यवसाय और स्थान की दृष्टि से इस देश में अनेक उपजातियाँ हो गईं थीं जैसे स्थान की दृष्टि से माथुर, सरयूपारीण इत्यादि और व्यवसाय की दृष्टि से चमार तेली, धोबी। इस काल में बिरादरी की संस्था निश्चित रूप से विकसित हुई।

भक्ति काल में इन उपजातियों का संगठन हुआ। इन उप-जातियों में परस्पर खान-पान आदि भेद मुसलमानों के समय में ही बढ़ा। इस सबंध में दो दृष्टिकोण मिलते हैं :

१. यह उपजाति व्यवस्था हमारे राजकीय पतन का मुख्य कारण थी, क्योंकि इस प्रकार देश अनेक भागों में वि[illegible] हो गया और फिर संगठित न हो सका।

२. इस उपजाति व्यवस्था के कारण ही हमारी संस्कृति को बहुत सहायता मिली। १२०० ई० के पूर्व भारतीय समाज, शिक्षा आदि की व्यवस्था हमारे ही शासकों के हाथ में थी। तत्पश्चात् वे व्यवस्थाएँ मित्र या देशी संस्कृत से भिन्न शा[illegible] के हाथ में चली गईं। इस परिस्थिति में यदि बिरादरी की संस्था न बनाई जाती तो भारत की प्राचीन संस्कृति के चिन्ह भी न मिलते। इन बिरादरी की संस्थाओं ने एक प्रकार का असहयोग आन्दोलन किया। असहयोग का ध्येय अपनी संस्कृत को सुरक्षित रखना था। प्रादेशिक सम्प्रदाय इसलिए कि इस प्रकार सुरक्षा हो सकती है। दंड का विधान किया गया और समाज को अपने हाथों दंड देने का अधिकार लेना पड़ा। इससे विवाह संबंधी समस्याएँ जटिल हो गईं। बाल विवाह, विधवा विवाह का बहिष्कार और सतीप्रथा आदि कुप्रथाएँ विशेष रूप से इस काल में प्रचलित थीं।

परदे की प्रथा मुसलमानों के ही सम्पर्क से आई। उच्च श्रेणी के धनीमानी मुसलमानों की स्त्रियाँ परदे में चलती थीं। उसकी देखा-देखी यहाँ भी चल पड़ी। परन्तु जो प्रांत मुसलमानों के संपर्क में नहीं आये, वे इस प्रथा से मुक्त थे।

शासकों की भाषा होने के कारण अरबी-फारसी को महत्त्व मिला और इसी में शिक्षा दी जाने लगी। केवल कन्द्रों में (जैसे काशी) संस्कृत का अध्ययन चलता रहा। कला के क्षेत्र में अवनति रही।

इस्लाम धर्म और राजा का संबंध जुड़ गया था, अतः यह स्वाभाविक था कि इसका प्रचार शीघ्रता से होता। हिंदी प्रदेश में इस समय पाँच-छः धार्मिक धाराएँ चल रही थीं—

१. मुसलमानी एकेश्वरवादी धारा जिसे शासकों से सहारा मिल रहा था।

२. सूफी प्रेमानुयायी धारा।

३. हठयोग की धारा।

४. सहजयोगी निर्गुणमत की ज्ञानाश्रयी धारा जिसमें प्रेम का भी सहयोग था।

५. वैष्णव भक्ति-धारा जिसमें भक्ति का प्रधान स्थान था। इसके कई रूप विकसित हुए—विष्णुभक्ति, रामभक्ति, कृष्ण-भक्ति, राधाभक्ति।

६. कुछ विशेप भागों में शैव और शाक्तमत भी चल रहे थे। इनमें से शाक्त तो बहुत कुछ बौद्ध तंत्राचारों से भ्रष्ट हो चुका था।

इन पाँचों धाराओं ने एक दूसरे को प्रभावित किया। ये धाराएँ बराबर समानान्तर चलती रहीं और बहुत दिनों तक चलीं। इस काल में जिन विचारधाराओं का प्रकाशन साहित्य में हुआ,

उसका परिचय प्राप्त करने के लिए इनमें से प्रत्येक का समझना आवश्यक है।

१. एकेश्वरवादी इसलामी धारा

भारतवर्ष में जब इस्लाम का प्रचार हुआ तो उसके अंतर्गत केवल धार्मिक भावनाएँ ही सीमित नहीं थीं प्रत्युत मुसलमानों की संस्कृति और समाज का संगठन भी विशेष रूप से आकर्षक था। अतएव भारत के मुसलमानों के संपर्क में आने पर भारतीयों पर केवल धार्मिक विचारावली का ही प्रभाव नहीं पड़ा, इस्लामी संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा। कुछ हिन्दुओं ने तो हिन्दू धर्म को त्याग कर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। उत्तर भारत से ही अधिकांश धर्म परिवर्तन हुआ। पंजाब में पचास प्रतिशत जनता ने, बंगाल में पचास प्रतिशत जनता ने, मध्य प्रदेश में पच्चीस प्रतिशत जनता ने धर्मपरिवर्तन किया। हिन्दी प्रदेश में कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण इस्लाम का विशेष प्रचार न हो सका। कुछ हिंदुओं ने धर्मपरिवर्तन ही नहीं किया, अपितु उन्होंने इस्लामी संस्कृति को भी स्वीकार किया, अर्थात् उन पर संस्कृति का ही प्रभाव पड़ा। फारसी का पठन-पाठन, मुसलमानों का रहन-सहन, खानपान, वेषभूषादि इन्होंने अपनाये। इस वर्ग के अंतर्गत अधिकांश संख्या में कायस्थ और काश्मीरी ब्राह्मण थे। जनता की विचारावली पर भी इस्लामी प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ एकेश्वरवाद का प्रचार हुआ। यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीनकाल से ही ईश्वर को एक माना जाता था, परन्तु मुसलमानों के आने तक हिन्दी प्रदेश (मध्यदेश) में अनेकश्वर-वाद का प्रचार था। अनेक देवी-देवता पूजा और उपासना के विशेष विषय थे। अवतारवाद पर आस्था बढ़ी-चढ़ी थी। इस्लाम के संपर्क में आने पर जनता का एक वर्ग एकेश्वरवाद पर अधिक बल देने लगा।

इस्लामी धर्म में पैगम्बर की कल्पना थी। इसी के अनुसार भारत में भी अनेक संप्रदायों के संचालक व्यक्तियों को भी मुहम्मद का-सा स्थान दिया गया। गुरु को ईश्वर तक पहुँचने का प्रमुख साधन मान कर उस पर बड़ी श्रद्धा प्रगट की गई।

२. सूफी प्रेमाश्रयी धारा

कहने को सूफी मुसलमान हैं, परन्तु जहाँ मुसलमान शरियत को प्रधानता देते हैं, वहाँ सूफी "तरीकत" को। दोनों "अल्लाह" को मानते हैं, रोज़ा-नमाज़ रखते हैं, परन्तु सूफी का सम्बन्ध भय का नहीं, प्रेम का सम्बन्ध है। रोज़ा-नमाज़ उसके लिये गौण वाह्याचार है। वह प्रेम का पुजारी है।

सूफ का अर्थ है ऊन। कुछ विद्वानों का मत है कि ईरान (फारस) में मुसलमानों के आक्रमण से पहले वहाँ अद्वैतवादी संतों की एक जाति विकसित हो गई थी जो सफेद ऊन के कपड़े पहनती थी। यही सूफी थे। मुसलमानों के आने के बाद उन्होंने इस्लामी धर्म और कानून ग्रहण कर लिया, परन्तु उसमें अपने ढङ्ग की प्रेम-मूलक पूजापद्धति (भक्ति) का मिश्रण कर लिया। साधारण मुसलमानों के विपरीत सूफी जाति-भेद नहीं मानते। साधारण मुसलमानों में शेख का वही स्थान है जो हिन्दुओं में ब्राह्मण का है। परन्तु सूफी को इस प्रकार के भेद मान्य नहीं हैं। सब एक अल्लाह के बन्दे, एक नूर के टुकड़े होने के कारण बराबर हैं, न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। सूफियों की कुछ मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

(१) खुदा (अल्लाह) ही सब का मूल स्रोत या उद्गम है। अल्लाह क्या है, बन्दों के सारे व्यक्तियों को इकट्ठा करे या सामूहिक रूप दे, तो उसे अल्लाह कहेंगे। वह नूर मात्र है। साधारण मुसलमानों की तरह सूफी बहिश्त में खुदा के स्थूल

अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उसका जलवा भी संभव नहीं। जल्लालउद्दीन रूमी, प्रसिद्ध सूफी कवि, की एक रुबाई का अनुवाद है :

Hidden things are manifested by their opposites, but, as God has no opposite, He remains hidden. God's light has no opposite in the range of creation, whereby it may be manifested to view.

जब जीव का व्यक्तित्व अल्लाह के व्यक्तितत्व से भिन्न नहीं है, तो दोनों एक हुए। इसीसे सूफी कहता है—अनलहक (मैं हक हूँ, सोहमस्मि)। इसे ही वेदांती अद्वैतस्थिति कहते हैं।

(२) जगत् अल्लाह का प्रकाश है, उसका व्यक्तरूप है। यद्यपि दोनों भिन्न जान पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में अल्लाह और जगत् एक हैं। जगत वहृदत (एक) की कसरत (बहुरूपता) मात्र है। वहृदत पर वाह्य रूपों का आरोप हो जाने पर ही जगत का वैभिन्य प्रगट होता है।

(३) अल्लाह के दो रूप हैं—ज़ात और सिफ़ात। ज़ात का एक ही रूप है, एक ही नाम है अल्लाह। सिफ़ात के कई रूप हैं जिन्हें सामूहिक रूप से मुहम्मद कह दिया जाता है। ज़ात और सिफ़ात दो पूरक शक्तियाँ हैं। ज़ात से सिफ़ात की ओर बढ़ने को नज़ूल और सिफ़ात से ज़ात की ओर बढ़ने को मजूल कहते हैं। सिफ़ात की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है— उसका उद्गम ज़ात है, उसी में अन्ततः वह लय को प्राप्त होता है।

(४) समस्त धर्मों का मूल है ज्ञान (हक़) परन्तु यह तर्क और आलोचना का विषय नहीं है, अनुभूति का विषय है। सूफियों का विचार है कि जीव ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, इस बात की अनुभूति हुए बिना सच्चा ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता।

यह अनुभूति कैसे प्राप्त हो—इश्क (प्रेम) के द्वारा। सूफी साधना का मूल मंत्र है इश्कुल्लल्लाह महबूब उलअल्लाह (ईश्वर प्रेम है और प्रेमी एवं प्रेममात्र भी प्रेम के ही रूप हैं) जब अहद (एक) को अपने इकेलेपन (वहदत) की अनुभूति होती है, तब वह प्रेम के प्रकाश के लिये "द्वैत" हो जाता है कि वह इससे प्रेम करने का आनन्द प्राप्त कर सके। इस सिद्धान्त से अल्लाह प्रेमी है, जीव और जगत प्रेमिका। परन्तु इसका उलटा सिद्धान्त भी इतना ही सच है।

(५) सूफियों का कहना है कि विकास की सारी शक्तियाँ मनुष्य पर आकर समाप्त हो जाती हैं—वह अल्लाह के प्रेम की सबसे पूर्ण अभिव्यंजना है।

(६) सारे ब्रह्मांड में प्रेम (इश्क) का राज है—वही प्रधान शक्ति के रूप में विकास का परिचालन कर रहा है। यही इश्क कभी द्रष्टा है, कभी दृश्य। इश्क के सिवा कहीं कुछ भी नहीं है। अल्लाह भी इश्क है। इस प्रकार सूफियों की स्थिति लगभग इस प्रकार है—

"Love is the reduction of the universe to the single being, and expansion of a single being even to God"

(Balzac)

इश्क की पहचान क्या है? इश्क में प्रेमी का व्यक्तित्व प्रेमिका के व्यक्तित्व में डूब जाता है—उसे सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करना होता है।

(७) जिसे हिन्दुओं ने मोक्ष और बौद्धों ने निर्वाण कहा है उसे सूफी बक़ा कहते हैं, मुसलमान नजात कहते हैं। बक़ा है अद्वैतावस्था—कुरान में लिखा है जीव की अभिव्यक्ति खुदा से हुई, उसी में इनका व्यक्तित्व समाप्त हो जायगा। भेद लक्ष्य का

नहीं है, भेद है मार्गों का। किन्हीं भी मार्गों पर चल कर अंत में जीव को ब्रह्म की अद्वैतावस्था को प्राप्त होना है।

(८) ब्रह्ममुख आत्मा की यात्रा में बाधक है अज्ञान

"He who is blind in life, will remain blind after Death. *(Koran)*

इसी से ज्ञान-प्राप्ति सूफी साधना की पहली सीढ़ी है। परन्तु इसी ज्ञान को बहुत थोड़े लोग पा सकते हैं।

"We have stripped the viel from thine eyes, and thy sight today is keen." *(Koran)*

इस यात्रा में सफलता "इश्क" द्वारा ही मिल सकती है। इसी के द्वारा साधक के पापों का क्षय होता है। और वह परमात्मदर्शन पाता है। यह इश्क चाहे मजाजी (मानवी) हो, या हक़ीकी (ईश्वरीय), अंत में अल्लाह के दर्शन होते है। रूमी ने कहा है—

"Man may be the lover of man or the lover of God, after his perfection in either, he is taken before the King of love."

(९) सूफी को किसी भी धर्म, धर्मोपदेशक या धर्मप्रवर्तक से कुछ कहना नहीं है। वह सब नूर के पुतले हैं। इनमें नाम-रूप का ही भेद है। हाँ, वह यह विश्वास अधिक करता है कि मुहम्मद अन्तिम औतार है। उन्हें "खात्माउलमुरासलीम" कहा गया है।

सूफी का साधना मन्त्र है लाइलाही अल्लाह हू (अल्लाह के सिवा और कोई है ही नहीं)। इस मन्त्र की साधना सरल नहीं है। पग-पग पर मुरशिद, पीर या गुरु की आवश्यकता है। सूफी मत में गुरु का इतना ही महत्त्व है जितना संत या भक्त संप्रदायों में। कदाचित इनसे भी अधिक। सूफी यह विश्वास करते हैं कि बक़ा (मोक्ष) की अवस्था इसी जीवन में प्राप्य है। इससे उस अवस्था तक ले चलने वाले गुरु का महत्त्व और भी [illegible]।

(१०) आत्मानुभूति के साधन हैं शरियत, तरीक़त, हक़ीकत और माफ़त का अध्ययन और फ़िक्र, कसब, और अमल की साधना। इसके लिये पहले विषय त्याग और आत्म-समर्पण की आवश्यकता है।

सूफी साधना में नामस्मरण के बाद संगीत और नृत्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। संगीत को सूफी "आत्मा का भोजन" (गिज़ाय-रूह) कहते हैं। संगीत की लय से मानसिक आन्दोलन उठाने की चेष्टा की जाती है और धीरे-धीरे साधक का सारा व्यक्तित्व संगीतमय हो जाता है। संगीत के ५ प्रकार हैं—तरब, राग, सोल, निदा, सोत। तरब से शरीर में संगीत की लहरें उठने लगती हैं। राग से बुद्धि मूर्च्छना को प्राप्त होती है। सोल से भावनाएँ उत्तेजित होती हैं। निदा को साधक केवल साधनावस्था या अनुभूति की अवस्था में ही सुनता है। सोत ईश्वरीय या स्वर्गीय संगीत है। निज़ामउद्दीन चिश्ती के समय से सूफियों में बड़ी-बड़ी संगीत सभाएँ की जाने लगीं जिन्हें "समा" कहते हैं और इस प्रकार व्यक्तिगत साधना से सामूहिक साधना का विकास हुआ। इसी चिश्ती-सूफी संप्रदाय में वज्द (भावनात्मक नृत्य एवं अंगसंचालन) का भी आविष्कार हुआ। "कव्वाली" गाने और उनके साथ सिर हिला-हिला कर झूमने की प्रथा चली। संगीत और वज्द के द्वारा साधक अपने चारों ओर के वातावरण से ऊपर उठ कर अल्लाह की ओर एकाग्र मन होकर आगे बढ़ता है।

परन्तु यह सब साधनाएँ गौण हैं, प्रमुख साधना, भारतीय साधना की भाँति, "ध्यान" की साधना है। सात प्रकार के ध्यान मान्य हैं : (१) नमाज (शरीर के नियमन के लिए), (२) वज़ीफा (विचार के नियमन के लिए), (३) जिक्र (शारीरिक पूर्णता प्राप्त करने के लिए), (४) फिक्र (मानसिक पूर्णता प्राप्त करने के लिए),

(५) कस्ब (आत्मस्थित होने के लिए), (६) शग़ल (ब्रह्मस्थित होने के लिए), (७) अमल (बक़ा या फना की अवस्था की प्राप्ति के लिए)। परन्तु इन सब योग से मिलती हुई साधनाओं के साथ-साथ सूफी साधक अल्लाह से प्रेम का संबंध जोड़ता है, उसके वियोग में आँसू टपकाता है, खुद उसका प्रेमी बन कर परमात्मा को प्रेमिका समझ कर उसे ढूँढ़ने निकल पड़ता है। वह वियोग का साधक है। सूफी साहित्य में वियोग और संयोग के अत्यन्त मधुर प्रभावोत्पादक वर्णन मिलेंगे। यह असंभव नहीं कि सूफियों की इस विरह की साधना से कबीर और परवर्ती संत प्रभावित हुए हों।

३. हठयोग की धारा

हठयोग की धारा के प्रवर्तक गोरखनाथ और मत्स्येंद्रनाथ हैं जिनका समय ९वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक माना जाता है। डा० मोहनसिंह का कहना है कि गोरखनाथ ने उपनिषद के ब्रह्मवाद की पुनः प्रतिष्ठा की और सिद्धों के मत को शैवधर्म का रूप देकर और उसे बौद्ध तंत्राचार से अलग कर नाथपंथ के नाम से प्रचलित किया। उनका विचार है कि छठी शताब्दी से १०वीं शताब्दी तक दक्षिण में जिन शैव और वैष्णव अलवारों (सिद्धों, भक्तों) का ज़ोर था, उनके काम से गोरखनाथ परिचित ही नहीं प्रभावित भी थे। जो हो, कबीर के समय से कुछ पहले उत्तर और मध्य भारत में हठयोग का अत्यंत व्यापक प्रचार था और योगियों के चमत्कारों की कथाएँ कामरूप (आसाम) से लेकर बलख-बुखारा तक फैल गई थीं। जहाँ तक हमें पता है नाथपंथ पर अदियारों और अलवारों के भक्तिमार्ग का अधिक प्रभाव नहीं है। हठयोग में भक्ति का स्थान बहुत गौण है, लगभग है ही नहीं। भक्ति का व्यापक प्रचार संतों ने किया।

गोरख का हठयोग उनके राजयोग की भूमिका है जिसका लक्ष्य है चित्तवृत्ति, प्राण और वीर्य का निरोध। शरीर और मन के इस नियमन के बाद योगी ध्यान, धारणा और समाधि के द्वारा आत्मस्थित होकर "शून्य" तक पहुँचना चाहता है। गोरखपंथ में शिव और शक्ति को ही अंतिम लक्ष्य माना गया है। वह शैवाद्वैत को मानता है। पूर्ववर्ती सिद्धों की तरह नाथों ने भी लोकभाषा का सहारा लिया है और उनकी भाषा ने सिद्धों की भाषा से अनेक शब्द, रूपक और शैलियाँ उधार ली हैं।

हिन्दू योग के अनुसार मेरुदंड और सुषुम्ना नाड़ी पर छः चक्र हैं। मेरुदंड के नीचे चार दल का मूलाधार चक्र है। उसमें प्रकृति या कुण्डलिनी निवास करती है। उसके ऊपर छः दल का स्वाधिष्ठान कमल है। फिर नाभि पर दस दल का मणिपुर चक्र। हृदय पर १२ दल का अनाहत चक्र। कंठ पर १६ दल का विशुद्ध चक्र। भौंहों के बीच में दो दलों का आज्ञा चक्र। मेरुदंड के ऊपर १००० दल का सहस्रार चक्र है। सहस्रार में पुरुष सोया रहता है। जब तक कुण्डलिनी सोती रहती है, तब तक सृष्टि होती रहती है। जब वह योग द्वारा जगा ली जाती है तो बाहर की सृष्टि पुरुष में लय हो जाती है। ब्रह्मरंध्र के द्वारा सहस्रार के चंद्र से अमृत निकलता है। यह इडा नाड़ी में प्रवाहित है। मूलाधार के चार दलों में सूर्य है जो उसे सोख लेता है और विषमय पदार्थ उत्पन्न करता है। ये पदार्थ शरीर में प्रवेश कर उसे वृद्ध और निर्बल बना देते हैं। योगी का काम है कि वह इस अमृत को कंठ में ही रोक रखे। इससे सूर्य के द्वारा जो विषमय पदार्थ बनते हैं, वे नहीं बनेंगे।

अनहदनाद सुनने और अमृतरस का आनन्द लेने के लिए यह आवश्यक है कि इन शक्तिचक्रों को उत्तेजित कर लिया जाय। योगदर्शन में इसके लिए अष्टांग योग (८ प्रकार की

यौगिक क्रियाओं) की योजना है। श्वास-निरोध या प्राणायाम इसमें मुख्य है। श्वास की तीन अवस्थायें हैं पूरक, रेचक और कुम्भक। पूरक में श्वास भीतर जाती है, रेचक में बाहर; कुंभक में वह भीतर रहती है। कुम्भक के समय को धीरे-धीरे बढ़ाना ही श्वास-निरोध है। योगी यह भी बताते हैं कि जब श्वास बायें नासिकारंध्र से भीतर जाती है तो वह इडा से भीतर जाती है। यह इडा इला या चंद्रनाड़ी भी कहलाती है। जब दाहिने से आती है तो पिंगला (या सूर्यनाड़ी) से। जब वह दोनों नथनों से आती है तो वह सुषुम्ना से आती है। इस नाड़ी को अग्निनाड़ी भी कहते हैं। योग की परिभाषा में इडा वरुण है, पिंगला अग्नि है, आज्ञाचक्र काशी है। इडा गंगा है। पिंगला जमुना है और सुषुम्ना सरस्वती है। सहस्रार त्रिवेणी कहा गया है।

जैसे-जैसे कुण्डलिनी चक्रों को भेद कर ऊपर उठती है, वैसे-वैसे आध्यात्मिक अनुभव के ऊँचे-ऊँचे धरातल पर साधक पहुँचता है और उसमें अद्भुत शक्तियों का विकास होता है। जो इन अद्भुत शक्तियों को पाकर इनमें ही खो जाता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। योगी का लक्ष्य यह है कि कुण्डलिनी सभी चक्रों को भेद कर सहस्रार में स्थित ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाये। इस अवस्था में मन और इन्द्रियाँ अंतर्मुखी हो जाते हैं और साधक को शांति, सुख और आनन्द का अनुभव होता है। इस दशा को "उन्मनदशा" या 'Supraconsciousness' कहते हैं। उन्मनदशा में ही योगी को अनहदनाद सुनाई देता है, शब्दयोग को वह प्राप्त होता है। वेदांत में इसी अवस्था को तुरीय अवस्था कहा गया है।

४. सहजयोग का संतमत

डा० मोहनसिंह का कहना है कि गोरखनाथ वास्तव में सहज-योग के प्रवर्तक थे। जिसका आधार कुण्डलिनी को जाग्रत करना

नहीं था, वरन् आत्मज्ञान या ज्ञान था। परन्तु गोरखनाथ के जो कई ग्रंथ प्राप्त हैं, उनसे इस कथन की पुष्टि नहीं होती। यह ठीक है कि उन्होंने हठयोग की साधना को नये अर्थ दिये, उसे आत्मानुभूति से नीचा ही बताया, परन्तु चक्रभेद पर उन्हें उतना अधिक विश्वास था—जितना किसी भी हठयोगी को होगा। कबीर ही सहजयोग (या मन्त्रयोग) के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में हठयोग की साधना को उसी रूप में स्वीकार किया गया है जिस रूप में वह योगियों और नाथों में प्रचलित थी, परन्तु बाद की रचनाओं में वह सहज समाधि की बात कहते हैं, अवधू (अवधूत = योगी) की मुद्रा, शृङ्गी आदि की हँसी उड़ाते हैं। फिर भी ध्यान, धारणा और समाधि में उन्हें विश्वास है। यदि "सहजयोग" शब्द का उपयोग ही किया जाय तो वह कबीर के योग के लिए होना चाहिये, गोरखनाथ के योग के लिए नहीं।

इस सहजयोग और संतमत का विशद वर्णन इस पुस्तक का विषय है, अतः यहाँ मध्ययुग की साधना की इस धारा की विशेष विवेचना नहीं हो सकती। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि योगमार्ग से प्रभावित होकर भी और वैष्णव भक्ति के अनेक अंगों को आत्मसात करके भी कबीर की साधना का एक अपना सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्व है। इसे ही हम संतमत, कबीरमत, सहजयोग या मंत्रयोग कह सकते हैं। इसमें सहजयोग के रूप योग साधना की प्रमुख बातों को स्वीकार कर लिया गया था। परन्तु उसमें भक्ति का भी समावेश था। पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, संतमत के प्रवर्त्तक "कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।" (कबीर पृ० १५३) परन्तु केवल योग और भक्ति ही क्यों? संतमत में उपनिषदों के कितने ही सिद्धान्त ग्रहण कर लिये गये हैं

और सूफी प्रेममार्गी भक्तों की साधना को भी स्वीकार कर लिया गया है। उसमें अपने समय के सारे धार्मिक और दार्शनिक मतवादों का सार आ गया है, परन्तु ऐसा होते हुए भी उसके विशिष्ट व्यक्तित्व का नाश नहीं हुआ है।

५. वैष्णवधारा

यह भक्तिकाल की धार्मिक धाराओं में सबसे महत्वपूर्ण है। भक्तिकाल के धार्मिक क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस समय पौराणिक धर्म को एक नूतन रूप मिलता है। अतएव भक्त-संप्रदायों का मूल प्राचीन काल के वासुदेवधर्म में मिलता है। फिर भी वे नये रूप से संगठित हुए हैं। वैष्णवधर्म का आरम्भ ६०० पू० ई० के लगभग वासुदेवधर्म या वैष्णव-धर्म के नाम से हुआ। २०० पू० ई० तक इसका प्रचार उत्तर भारत में ही हुआ। इसके पश्चात् यह लुप्त तो नहीं हो गया परन्तु कुछ क्षीण अवश्य हो गया। वास्तव में २०० पू० ई० के पश्चात् वैष्णवधर्म दक्षिण भारत में चला गया। वहाँ शैव-धर्म प्रबल था। संम्भवतः मथुरा के निकटवर्ती कुछ वैष्णव दक्षिण की ओर गये और उन्होंने वहाँ वैष्णवमत का प्रचार किया। १२०० ई० तक वैष्णवधर्म दक्षिण में ही प्रमुखता प्राप्त करता रहा। दक्षिण में इस काल में वैष्णवधर्म से संबंध रखने वाले कुछ लेखक हुए हैं जिनमें से अलवार प्रसिद्ध हैं। ये ५वीं ६वीं शताब्दी में वर्तमान थे। ये संत थे और भक्तिपूर्ण पदों की रचना करते थे। १००० और १३०० के बीच में चार महान् आचार्य हुए। निम्बार्क, मध्वाचार्य, रामानुज और विष्णुस्वामी। इन्होंने वैष्णवधर्म संबंधी दार्शनिक ग्रंथों की रचना की और स्वयम् वैष्णवधर्म के प्रचार में सहायक हुए। यही भक्ति को दक्षिण भारत से उत्तर भारत में लाये जैसा पद्मपुराण की इस कथा से प्रगट होता है :

यह विश्वास एक धार्मिक भावना है, निष्क्रियता नहीं। 'समथाई कौ अंगै' में इन्हीं भावों की पुनरुक्ति है बंदा असमर्थ है। वह जो करता है, वह तो ईश्वर की समर्थता के कारण।

(७) विरक्त भावना।[1] इस विरक्ति का अर्थ है कि जिज्ञासु का मन संसार से फट जाय, वह कामिनी-कंचन का त्याग करे। ये भावनाएँ वैष्णवों में भी हैं। कबीर मत में यह विरक्ति भावना इतनी बढ़ी हुई है कि जिज्ञासु के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह उपदेश करता फिरे—

नीर पिलावत क्या फिरै सामर घर घर बारि
जो त्रिपावंत होइगा सो पीवेगा झमारि

(८) सहनशीलता[2] (खूँदन तौ धरती सहै)।

(९) जीवन-मृतक बनने की आवश्यकता।[3] जीवन-मृतक के लक्षण हैं—जगत की आशा का त्याग, शरीर रक्षा की कामना का त्याग, अहंभाव का त्याग, ममता का त्याग, दीनता का भाव, अहंकार और पाखण्ड के त्याग से सहजवृत्त की प्राप्ति।

इनके अतिरिक्त कई अंगों में वही बातें कहीं हैं, जो लगभग सब को मान्य है।

(१०) स्नेह (प्रेम, भक्ति) की प्राप्ति।[4] कबीर कहते हैं—

कमोदिनी जलहर बसै चंदा बसै अकास
जो जाही करि भावना सो ताही के पास

(११) सूर (शूरमा) बनने का महत्त्व।[5] कबीर भक्त में

---

[1] विर्कताई कौ अङ्ग।

[2] कसुबह कौ अङ्ग।

[3] जीवन-मृतक कौ अङ्ग।

[4] हेतु, प्रीति, स्नेह कौ अङ्ग।

[5] सूरा तन कौ अङ्ग।

शूरमा की कल्पना करते हैं जो कामक्रोधादि से जूझता है। यह कबीर की मौलिक कल्पना है। उन्होंने शूर के लक्षण, शूर के आयुध और शूर की जय-पराजय के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। इनके अतिरिक्त उन्होंने सत्पात्र को परखने पर बल दिया है[१] और निन्दा की महत्ता गाई है।[२] उनका आदर्श कितना ऊँचा है यह इससे प्रकट होगा कि निन्दा के सम्बन्ध में उनके क्या विचार हैं। वे कहते हैं कि कोई निन्दा करे तो जिज्ञासु को उसपर विचार ही नहीं करना चाहिये, वरन् वह निन्दा से स्वयं अपने को टटोल कर निर्मल बने; निन्दक से द्रोह नहीं करे, परनिन्दा नहीं करे, अपनी प्रशंसा भी नहीं करे और अपनो असमर्थता का सदैव ध्यान रखे। ये सब बातें और मतों में नहीं तो वैष्णव और सूफी विचार-धारा में तो एकदम मिल जाती हैं, यद्यपि एक स्थान पर नहीं।

परन्तु कुछ विषय ऐसे हैं जिनमें कबीर का मतवाद वैष्णव और सूफी भावना स बहुत अधिक भिन्न जाता है, जैसे विरह की साधना।[३] परन्तु कबीर इस विरह की साधना की भित्ति ज्ञान को मानते हैं।[४] गुरु द्वारा ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित होती है जिससे प्रेम की आग लगती है। वास्तव में यह ज्ञान की साधना योग की साधना से भिन्न है। इसी विरह की साधना को कबीर 'रस' (हरिरस=भक्ति) कहते हैं।[५] इसी निष्काम अनन्य

---

[१] पारिखी अपारिख कौ अंग (४८, ४६)

[२] निंद्या को अङ्ग (५४)

[३] विरह कौ अङ्ग (३)

[४] ज्ञान विरह कौ अङ्ग (४)

[५] रस कौ अङ्ग (६)

भक्ति को उन्होंने निष्कर्मी पतिव्रत[6] कहा है जिसमें भक्त आत्म-समर्पण की सीमा तक पहुँच जाता है। इसी विरहभाव की अंतिम अवस्था को उन्होंने "लव"[7] कहा है।

कबीर का लक्ष्य निर्गुण है। अनेक अंगों में[8] कबीर ने आत्मतत्त्व और निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की व्याख्या की है और उनका पारस्परिक संबंध समझाया है। कबीर के निर्गुण में वह अनंत तेज है जिसका कोई अनुमान नहीं हो सकता। उसका कोई आधार नहीं है (कवल जु फूला जलद बिनु, चंद विहूँसा चादिणाँ)। वह असीम है। हद्दे छाडि बेहदि हुआ, हुआ निरंतर वास) वह अंतर्यामिन है (अंतरि कवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहाँ होई)। वह सर्वव्यापी है (रामनाम तिहूँ लोक में सफल रहा भरपूरि)। वह घट-घट व्यापी है जो प्रेम से प्रगट होता है (पिंजर प्रेम प्रकासिया)। वह उन गुणों से परे है जिनके सहारे हम परिभाषा दे सकते हैं—

भारी कहौं त बहु डरौं हल्का कहूँ तौ झूठ
मैं का जाणों राम कुँ नैनूँ कबहूँ न दीठ
दीठा है तो कस कहूँ, कह्या न को पतिआइ
हरि जैसा है तैसा रहौ तूँ हरिषि हरिषि गुण गाइ

---

[6] निहकर्मी पतिब्रता कौ अङ्ग (११)

[7] लै कौ अङ्ग (१०)

[8] परचा कौ अङ्ग ५, लांबि को अंग ७, जीव कौ अंग ८, हैरान को अङ्ग ६, सूक्षिम याने को अङ्ग १४, सूक्षिम जन्म को अंग १५, मध्य को अंग १६। चाँणक कौ अंग १७, कस्तूरिया मृग कौ अंग ५३, उपजखि कौ अङ्ग ५०, पचानिवैरता कौ अंग ५२, सुंदरि कौ अंग ५१, बेली को अंग ५८, अविहगम कौ अंग ५६।

एक शब्द में कबीर अपने "निर्गुण" को अद्भुत या कौतुक ही कह सकते हैं—

ऐसा अद्भुत जिन कथै, अद्भुत राखि लुकाइ
बेद कुरानौ गमि नहीं, कह्यौ न को पतिआइ

इसी से उनका कहना है—

करता की गति अगम है, तू चहि अपणें उनमान
धीरै धीरै पाव दै, पहुँचैंगे परवान
पहुँचैंगे तब कहैंगे, उमड़ैंगे उस ठाँइ
अजहूँ बेरा सण्द मैं, बोलि बिगूचैं काइ

एक साखी में कबीर कहते हैं—

आदि मधि अरु अंत लौं अबिहड़[1] सदा अभंग
कबीर उस करता की सेवक तजै न संग

इसी निर्गुण में कबीर जीव की अद्वैतावस्था की कल्पना करते हैं—

पाँणी ही तै हिम भया हिम ह्वै गया बिलाइ
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहा न जाइ
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ
बूँद समानी समद मैं सो कत हेरी जाइ
हेरत हेरत हे सखी रह्यो कबीर हिराइ
समंद समाना बूँद मैं सो कत हेरया जाइ

कबीर का कहना है कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, परन्तु जब तक विरह की साधना द्वारा इस अद्वैतावस्था तक नहीं पहुँच जाता तब भेद है ही। कबीर ने आत्मा को सुन्दरी, राम की बहू आदि इसीलिए कहा है[2] और उसको अनन्यता, अव्यभिचारिणी

---

[1] अबिहड़ा कौ अङ्ग ५२ (अबिहड़ = जो विहार न करे)

[2] सुन्दरि कौ अङ्ग ५८

भावना का उपदेश दिया है। यह रूपक ही है। कभी-कभी कबीर आत्मा को "बेलि" भी कहते हैं।[1] इस विरह की साधना को ही कबीर 'सहजमार्ग' कहते हैं। वास्तव में जिस मार्ग से भी हरि मिल जाय वही सहज है—

सहज सहज सब को कहै, सहज न चीन्है कोइ
जिन सहजैं हरिजी मिलैं, सहज कही जै सोइ

परन्तु फिर भी विषय का त्याग प्रारम्भिक बात है। इसीसे कबीर इसमें जोड़ते हैं—

सहज सहज सब को कहै सहज न चीन्है कोइ
जिस सहजैं विषया तजी सहज कही जै सोइ

इसी साधनामार्ग से अद्वैतावस्था की प्राप्ति होती है—

एकमेय है मिलि रह्या दास कबीरा राम

इस निर्गुण ब्रह्म को ही कबीर राजाराम, नरहरि, निरंजन केशव, अलह, नंदनंदन, हरि, खालिक, सतगुरु आदि नामों से पुकारते हैं, परन्तु राम नाम उन्हें विशेष प्रिय है। विशिष्ट नाम के अभाव में नामस्मरण हो ही नहीं सकता और जहाँ भक्ति-भावना है वहाँ रूप न सही नाम का सम्बन्ध तो अवश्य ही है। परन्तु कबीर आग्रहपूर्वक बार-बार बताते हैं कि इन नामों के पीछे जो अवतार भावना है वह उन्हें मान्य नहीं है। सब नाम उनके निर्गुण या निर्गुण से भी परे (अकथ ?) चित्सत्ता के प्रतीक मात्र हैं। भावना को दृढ़ करने के सिवा इनकी कोई विशेष उपादेयता नहीं। परन्तु विरहासक्ति के लिए नाम का सहारा तो चाहिये ही। परन्तु कबीर प्रचलित नाथपंथी योगमार्ग से भी बहुत कुछ सहारा लेते हैं। यहाँ भी वे बाह्याडम्बरों का बहिष्कार कर देते हैं—

---

[1] बेलि को अङ्ग (५८)

जोगिया तन को तंत्र बजाइ
ज्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ
तत करि ताँति धर्म करि डाँडी सत की सारि लगाइ
मन करि निहचल आसण निहचल, रसना रस उपजाइ
चित करि बरवा तुचा मेपली, मेसमैं भसम चढ़ाइ
तजि पाखंड पाँच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ
हिरदै सींगी ग्याँन गुणि बाँधौ खोजि निरंजन साचा
कहै कबीर निरंजन की गति जुगति बिना स्यंद काचा

यही नहीं, वे सारे योग को मन की साधना बना देते हैं, इस प्रकार "सहजयोग" की प्रतिष्ठा करते हैं—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा
राति दिवस न करई निद्रा ॥टेक॥
मन मैं आसण मन मैं रहणाँ मन का जप तप मन सूँ कहणाँ
मन मैं सपराँ मन मैं सींगी, अनहद बेन बजावै रंगी
पंच परजारि भस्म करि भूका, कहै कबीर तेलहसै लङ्का

और भी—

बाबा जोगी एक अकेला, जाके तीर्थ ब्रत न मेला
झोली पत्र बिभूति न बटवा, अनहद बैन बजावै
माँग न खाइ न भूखा सोवै, घर अँगनाँ फिरि आवै
पाँच जनाँ की जमाति चलावै तास गुरू मैं चेला
कहै कबीर उन देसि सिधाये, बहुरि न इहि जग मेला

"अवधू" के प्रति संबोधन करके कबीर इसी सहजयोग की प्रतिष्ठा प्रचलित योग के सामने की है जिसका रूप यह है—

सो जोगी जाकै सहज भाइ, अकल प्रीति की भीख खाइ ॥टेक॥
सबद अनाहद सींगी नाद काम क्रोध बिषिया न बाद
मन मुद्रा जाकै गुरु कौ ग्याँन, त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यान

मनहीं करन कौ करै सनाँन, गुर कौ सबद लेले धरे धियान
काया कासी खोजै बास, तहाँ जोति स्वरूप भयौ परकास
ग्याँन मेपली सहज भाइ, बंक नालि कौ रस खाइ
जोग मूल कौ देह बंद, कहि कबीर थिर होइ कंद ३७७

परन्तु इतना सब होते हुए भी वे नाथपंथियों के पारिभाषिक शब्दों और सहजक्रियाओं को ग्रहण कर लेते हैं—

आत्मानंदी जोगी, पावै महारस अमृत योगी ॥ टेक ॥
ब्रह्म अगिनि काया परजारी, अजपा जाप उनमनी तारी
त्रिकुट कोट मैं आसण मांडै, सहस समाधि विषै सब छाँडै
त्रिवेणी विभूति करै मनमंजन, जन कबीर प्रभु अलप निरंजन

अवधू, जोगी जग थैं न्यारा
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न पंडै धारा ॥ टेक ॥
बसै गगन मैं दुनी न देखै, चेतनि चौनी बैठा
चढ़ि अकास आसण नहीं छाजे, पीवै महारस मीठा
परगट कंथा माँहै जोगी दिल मैं दरपन जोवै
हंस इकीस छ सै धंगा निहचल वाके पीवै
ब्रह्म अगिनि मैं काया जारै त्रिकुटी सङ्गम जागै
कहै कबीर सोई जोगेस्वर सहज सुनि ल्यौ लागै

वास्तव में कबीर के निकटवर्ती प्रदेश में योगमत के अनुयायी बसे हुए थे। कबीर ने उनके सामने उनको ही परिभाषा में योग का एक नया परिष्कृत रूप रखा। वास्तव में यह कबीर का 'सहजमत' ही था। बाह्याचार का खण्डन तो पहले ही था, यहाँ जो योग की आंतरिक साधना थी, उसे नया रूप देने का प्रयत्न किया—

अवधू, मेरा मन मतिवारा
उनमनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा
गुड करि ग्याँन, ध्याँन कर महुवा, भव भाठी करि पारा
सुषम नारी सहज सयाँनी, पीवै पीवन हारा

दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई माठी, चुया महारस भारी
काम क्रोध दोइ किया फलीता छूटि गई संसारी
सुनि मंडल मैं मँहला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै
गुरु प्रसाद अमृत फल आया, सहज सुषमना काछै
पूरा मिला तबै सुष उपज्यौ, तन की तपति बुझानी
कहै कबीर भवबंधन छूटै, जोतहिं जोति समानी

कबीरमत के प्रचार में ये बातें और बार-बार गोरखनाथ की साक्षी अवश्य विशेष सहायक रही होंगी। इसी से "गोरख-कबीर गोष्ठी"—जैसे ग्रंथों की शृङ्खला चली होगी।

सच तो यह है कि कबीर के मतवाद के सम्बन्ध में हमें कई भूमिकाओं को लेकर चलना पड़ेगा—

(१) कबीर आत्मज्ञानी हैं। वे आत्मानुभव के उपासक हैं। अतः जहाँ शास्त्र आदि पर व्यंग है, वहाँ केवल आत्मानुभव पर बल इंगित है। जब वे कहते हैं—"दिन सुरैनि बेद नहीं सास्तर तहाँ बसै निरंकारा" तब केवल मन्तव्य यह है कि उसे केवल आत्मानुभव से जाना जा सकता है।

(२) वे वाह्याचारों का खंडन उस हद तक करते हैं जहाँ ये पाखंड और आडम्बर हो कर सच्ची वस्तु को छिपा लेते हैं। वास्तव में उन्होंने इस तरह आंतरिक शुद्धता और आंतरिक साधना पर ही बल दिया है—

अंतरि मैल जे तीरथ न्हावै तिसु बैकुंठ न जाना
लोक पतीणे कछु न होवै नाहीं राम अयाना
जल के मज्जन जे गति होवै नित नित मेडुक न्हावहि
जैसे मेडुक तैसे ओइ नर फिरि फिर जोनी आवहि

इसे एकदम तीर्थादि विरोधी उक्ति मान लेना ठीक नहीं होगा।

(३) उनका लक्ष्य ज्ञानभक्ति (या ज्ञान मूलक भक्ति) है—

निज-धन ज्ञान भगति गुरु दीनी तासु सुमति मन लागी।

(४) सभी प्रचलित मतवादों के पारिभाषिक शब्दों और साधनाओं की सामान्य और अंतरतम बातों को उन्होंने साररूप से ग्रहण कर लिया है, परन्तु अपने विशिष्ट दृष्टिकोण को बनाये रखा है। सब साधनाओं का समाहार उनके सहजमार्ग में हो जाता है। केवल शब्दावली पर जाने वाले या तो उन सब मतों का प्रभाव ढूँढ़ने लगते हैं जो कबीर के समय में प्रचलित थे या कबीर में किसी भी विशिष्ट साधन-पद्धति या सिद्धान्त को नहीं देख पाते।

(५) अपने विशिष्ट मतवाद पर दृढ़ रहते हुए भी कबीर ने अन्य मतवादों के बाह्याडम्बरों को उखाड़ कर उनके भीतर के तत्त्वसाधन की ओर इशारा किया है जैसे मुसलमान मत के संबंध में—

काजी बोल्या बनि नहिं आवै
रोजा धरै निवाज गुजारै कलमा भिस्त न होई
सत्तरि काबा घरहीं भीतर जे करि जाने कोई
निवाज सोई जो न्याइ विचारे कलमा अकलहि जानै
पाँचहुँ मुसि मुसला बिछावै तब तौ दीन पिछानै
सो मुल्ला जो मन स्यो लरै। गुरु उपदेश काल स्यो बरै
काल पुरुष का मरदै मान। तिस मुल्ला को सदा सलाम
(२१३)

सभी धर्मों के बाह्याडंबरों पर आघात करने के कारण सभी ने कबीर के मत को खंडनात्मक माना है, परन्तु वास्तव में कबीर नये मूल्यों का सृजन कर रहे हैं। उनका खण्डन सुधारमूलक है। वे बाह्याचारियों के स्थान पर हृदय-मन की साधना चाहते थे। यह नहीं कि वे संध्या, प्रातःस्नान, आरती, तीर्थ आदि सबके विरोधी हैं। यह सब ठीक है, परन्तु मूल तत्त्व ये नहीं हैं।

उन मूल तत्त्वों के अभाव में इनका तो कोई स्थान ही नहीं। वैसे स्वयं कबीर ने आरती गाई है—

> सुन्न संध्या तेरी देवदेवा करि अधपति आदि समाई
> सिद्ध समाधि अंत नहिं पाया लागि रहे सरनाई
> लेहु आरती हो पुरुष निरञ्जन सति गुरु पूजहु भाई
> ठाढ़ा ब्रह्मा निगम विचारै अलख न लखियो जाई
> तत्त तैल नाम कीया बाती दीपक देह उज्यारा
> जोति लाइ जगदीस जगाया बूझै बूझनहारा
> पंचे सबद अनाहद बाजे संगे सारंगपानी
> कबीरदास तेरी आरती कीनी निराकार निरबानी

परन्तु यहाँ मूल तत्त्व का सामने रखा गया है। कबीर के मतवाद में गौण तत्त्वों का स्थान ही नहीं है।

(६) कबीर के सम्बन्ध में यह विचार किया जाता है कि उनका तात्पर्य हिन्दू मुसलमान संस्कृतियों में मेल करना था या वे हिन्दू मुसलमानों को एकसूत्र में बाँधने का प्रयत्न कर रहे थे। इस तरह इस प्रयत्न की सफलता-असफलता पर उनका मूल्य आँका जाता है। वास्तव में ऐसा कोई उद्देश्य उनके सामने नहीं था। वे आत्मतत्त्व के जिज्ञासु थे। अतः उन्होंने अपने समय के विभिन्न मतों के भीतरी ऐक्य को समझने की चेष्टा भर की। इसके आधार पर उन्होंने कोई नया पंथ भी खड़ा नहीं किया। उन्होंने सभी मतों के ऊपर के गिलाफ को हटा कर सभी को चिढ़ा दिया, परन्तु साथ ही अपने भीतर देखने के लिये बाध्य किया।

(७) कबीर सारी वैष्णव वार्ता का प्रयोग अपने ढङ्ग पर कर लेते हैं चाहे फिर वह अवतारवाद से ही संबन्धित क्यों न हो। इससे भी कुछ लोगों को भ्रांति होती है।

(८) अन्य मतवादियों में कबीर को केवल "शाक्त" से चिढ़ जान पड़ती है। वे कहते हैं—

कहाँ स्वान कौ सिमृति सुनाये। कहा साकत पहि हरि गुन गाये
राम राम राम रमे रमि रहियै। साकत स्चो भूलि नहिं कहियै
कौआ कहा कपूर चुगाये। कह बिसिधर का दूध पिआये
सतसंगति मिलि विवेक बधि होई। पारस प[illegible] लोहा कंचन सोई
साकत लै लै नीम सिचाई। कहत कबीर वाको सहज न जाई

(परिशिष्ट ३९)

वैसे वे अवधू (योगी), पंड्या (पंडित), मुल्ला सभी के वाह्याडंबरों को काटते हैं, परन्तु इनके प्रति उन्हें उस तरह की घृणा नहीं है जिस तरह की घृणा उन्हें शाक्त के प्रति है। सूफियों की ओर वे विशेष दृष्टिपात करते नहीं जान पड़ते, यद्यपि उनके पारिभाषिक शब्दों से वे परिचित हैं।

इस वीथिका को सामने रखते हुए हम कबीर के मतवाद को इस तरह प्रकट करेंगे।

(१) गोविन्द की कृपा से गुरु की प्राप्ति।

(२) गुरु की कृपा से गोविंद का ज्ञान, माया का त्राण (भ्रम, मोह, तृष्णा, कुबुद्धि, कंचन-कामिनी आदि का त्याग, संक्षेप में विरक्तिभाव), हरि-प्रेम (भक्ति) का जन्म।

(३) भक्ति के विकास के लिए निरंतर प्रयत्न की आवश्यकता है। इसके लिए गुरुभक्ति और सत्संग की नितांत आवश्यकता है। आचरण-सम्बन्धी दोषों का परिहार और सद्गुणों का संग्रह भी परमावश्यक है। वे सद्गुण हैं—(१) मन और उसके विषयों का निग्रह, (२) वे करणी और कथनी की एकता, (३) चित्त की द्विधा से मुक्ति, (४) सारग्राहकता, (५) वाह्याचारों की अवहेलना, (६) मध्यम मार्ग से चलना, (७) ईश्वर में असीम विश्वास और

प्रपनी हीनता की भावना, (८) विरक्तभावना, (९) सहनशीलता, १०) जीवन-मृतक दशा की ओर प्रगतिशील होना, (११) काम-ोध आदि दुर्गुणों से निरंतर युद्ध (१२) पर निंदा से दूर हना, (१३) अहिंसा।

(४) अंत में साधक विरह की साधना तक पहुँच जाता है। ब तक उसका एकम[illegible] साधन नामस्मरण है। जब विरह की ाधना को पहुँच जाता है तो भक्त निष्काम अनन्य भक्ति के ारा आत्मसमर्पण कर देता है। इसी स्थिति को 'लय' या 'लौ' हते हैं।

(५) आत्मसमर्पण किसके प्रति किया जाय। कबीर गोविन्द, ाम, हरि—कितने ही नाम लेते हैं परन्तु वास्तव में तात्पर्य एक ी है। ये सब निर्गुण या गुणों के परे या ऐसे हैं जिन्हें समझा ी नहीं जा सकता। इनसे केवल अनुग्रह और नाम का नाता ोड़ा जा सकता है। फिर साधक धीरे-धीरे आनन्द प्रेम और ात्मसमर्पण का नाता जोड़ता है। वह "राम की बहुरिया" ो जाता है।

स्पष्ट है कि यह सब वैष्णव मतवाद ही है केवल आलंबन ं अंतर है, इसी से साधनों में कुछ अंतर है। रूप-विग्रह, ध्यान ारणा आदि को कबीर स्वीकार ही नहीं करते, क्योंकि वे वतारवाद के विरोधी हैं। परन्तु वे 'लय' की अवस्था तक हुँचने के लिये गोरखमत की कुण्डलिनी, सुषुम्ना, षटकमल ौर सहस्रार की मान्यताओं को मान लेते हैं यद्यपि वे उनकी ाधना को स्वीकार नहीं करते। साधना तो "सहज" ही है जसमें विरहभाव के सिवा और किसी बात की अपेक्षा नहीं । कबीर योगमार्ग से प्रभावित नहीं हैं—जैसा कहा जाता है। न्होंने योगमार्ग की वाह्य साधनाओं के स्थान पर आभ्यंतरिक ाधना को स्थापित किया है। इसी से वे कहते हैं—

अमि अंतरि मन रंग समानाँ, लोग कहैं कबीर बौरानाँ ॥२६॥

परन्तु योग की कुंडलिनी जाग्रत करनेवाली साधना को वे अभिव्यंजना-शैली के रूप में स्वीकार कर लेते है यद्यपि उसके मूल में वे प्रेम-भगति को ही रखते हैं, मुद्राओं और आसनों को नहीं—

हिंडोलनाँ तहाँ झूलै आतम राम
प्रेम भगति हिंडोलना, सब संतनि कौ विश्राम ॥टेक॥
चंद, सूर, दोउ खंभवा, बक गति की डार
झूलै पंच पियरिया, तहाँ झूलै जिय मोर
द्वादस गम के अंतरा, तहाँ अमृत को ग्रास
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास
सहज सुनि कौ साहरौ गगन मंडल सिरमौर
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम झूलैं हिंडौल
आध-उरध की गंगा जमुना, मूल कवल कौ घाट
षटचक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट
नाद स्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार
कहै कबीर गुण गाइ ले, गुर गमि उतरौ पार (१८)

वास्तव में कबीर विरह की भावना, नामस्मरण और गुरुभक्ति को ही तीन प्रधान उपादेय साधन मानते हैं जिनसे अद्वैतावस्था को प्राप्त किया जा सकता है। यह नामस्मरण माला पर नहीं चलता, भक्त की जिह्वा पर रहता है; परन्तु कबीर ने थोथी माल का ही बहिष्कार किया है। जहाँ भक्तिभाव में सच्चाई है, वहाँ वाह्याचार हानि नहीं कर सकते। कबीर मूल को समझ कर ही आगे बढ़ना चाहते थे। वे सच्चे आत्म-जिज्ञासु थे जो प्रचलित लोकभावना और रूढ़िवाद का एकदम त्याग करने और उनका विरोध करने का साहस रखते थे। अंत में यह नामस्मरण

भी "अजपा" हो जाता है। इसे मानसिक स्मरण ही कहना होगा।

कबीर के समय में इतनी धार्मिक विचारावलियाँ और साधनाएँ उत्तर भारत के धर्मक्षेत्र में चल रही थीं—

(१) शंकर का वेदांताश्रित मायावाद (अद्वैत)।

(२) रामानुज का विशिष्टावाद (विशिष्टाद्वैत) जिसमें विष्णु और लक्ष्मी की उपासना की प्रतिष्ठा थी और मूर्तिपूजा, आचार आदि को स्वीकार किया गया था। रामानन्द भी इसी संप्रदाय के थे परन्तु उन्होंने आचार-शासन को ढीला कर दिया था। उन्होंने उपासना के स्थान पर भक्ति की प्रतिष्ठा की। लक्ष्मी-विष्णु के स्थान पर रामसीता को आलंबन बनाया। परन्तु रामानन्द स्वतंत्र-चेत्ता थे। उन्होंने अपने शिष्यों को मुक्त छोड़ दिया। वे राम को चाहे जिस रूप में स्वीकार करें।

(३) दाशरथि राम के प्रति पूजा और भक्ति का भाव चल रहा था। इसी प्रकार मुरारी-कृष्ण के प्रति भी धर्मभाव बँध रहे थे। हम देखते हैं कि १२वीं शताब्दी में ही जयदेव ने राधा-कृष्ण को अपने काव्य का विषय बना कर गीतिगोविन्दम् की रचना की। कबीर के पहले चंडीदास और विद्यापति कृष्णकाव्य लिख चुके थे। अतः स्पष्ट रूप से न सही, अस्पष्ट रूप से ही रामकृष्ण भक्ति की धाराएँ बहने लगी थीं। अभी वे बहुत कुछ अंतः सलिला थीं।

(४) मुसलमानों के साथ एक एकेश्वरवादी मतवाद आया जो मूर्तिविरोधी, एक अल्लाह को मानने वाला, अवतारवाद का विरोधी और सरल जीवन का उपदेशक था। परन्तु उसमें भी वाह्याचार कम नहीं थे।

(५) सारे पश्चिम भारत में सूफ़ीमत का आधिपत्य था यद्यपि पंजाब के अनेक स्थलों में इसके साथ नाथपंथ भी चल

रहा था। सूफी बङ्गाल तक फैल गये थे। मुसलमान मत के प्रचार में इनके व्यक्तित्व, प्रेमभाव और चमत्कारों ने बहुत योग दिया। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि बंगाल की जनता इन्हीं सूफियों के कारण मुसलमान हुई। कुछ अन्वेषक चैतन्य मत के पीछे सूफी साधना का हाथ देखते हैं। यह स्पष्ट है कि सूफी हिन्दूमत पर गहरा प्रभाव डाल रहे थे और दो-तीन शताब्दियों में नाथपंथियों के एकाधिपत्य को निर्बल करने में सफल हो गये थे। शैवमतावलंबी राजपूतों के समय में गोरखपंथ सारे देश में प्रचलित हो गया था। उसके पतन के साथ उसका पतन भी अवश्यम्भावी था। कबीर के प्रदेश में अब भी सूफी भाव निर्बल थे।

(६) योगपंथ कबीर के प्रदेश की सबसे प्रमुख धारा थी। इसका रूप बहुत कुछ सहजपंथी सिद्धों की साधना से मिश्रित हो गया था। परन्तु कबीर को इसके सम्मुख ही अपना मत स्थापित करना था।

(७) पूर्वी हिन्दी प्रदेश से लेकर बंगाल तक शाक्त संप्रदायों की धूम थी। सारा हिन्दू बङ्गाल शाक्त ही था यद्यपि धीरे-धीरे वैष्णव भावना वहाँ घर कर रही थी। कबीर का शाक्तों से घोर विरोध था। इससे स्पष्ट है कि वे इस मत के प्रबल प्रवाह के सम्मुख आ चुके थे।

कबीर ने शाक्तमत को एकदम अस्वीकार कर दिया। वे इसके बड़े विरोधी थे। उन्होंने "शांकरों" को कितने ही पदों में घोर भर्त्सना की है; उन्हें कुत्ता तक कह दिया है। शेष मतों के सारे वाह्याचारों को उन्होंने अस्वीकार किया। उन्होंने मूँड मुडाने, डंड धारण करने, गेरुवा पहनने, कंथा रखने आदि की वैरागियों की प्रथा का विरोध किया। अन्य स्थल पर हमने यह बताया है कि तीर्थयात्री वैरागियों को कबीर ने किस प्रकार

लज्जित किया। इस प्रकार तीर्थ-व्रतादि उन्हें अमान्य रहे। उन्होंने रामकृष्ण के सगुणरूप को नहीं माना। वे इन नामों को निर्गुण अर्थ में ही प्रयुक्त करते थे। अतः पूजा-उपासना, आरती, नित्य और नैमित्तिक कर्मों से वे सहज ही छुटकारा पा गये। वे नमाज रोजा, हज, मस्जिद, कुरान, सुन्नत सभी को व्यर्थ बताते हैं—

काजी कौन कितैब बषानैं
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहिं जानै ॥टेक॥
सकति से नेह पकरि करि सुन्नति, यहु नबहूँ रे थाइ
जौर खुदाई तुरक मोहि करता, तौ आपे कटि किन जाइ
हौं तो तुरक किया करि सुन्नत, औरति सौं का कहिये
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिये
छाड़ि कितैब राम कहि काजी खून करत हौ भारी
पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झखमारी

मुलाँ करि ल्यौ न्याव खुदाई
इहि विधि जीव का भरम न जाई ॥टेक
सरनी आनैं देह बिनासैं, माटी बिसमल कीता
जोति सरूपी हाथि न आया, कहौ इलाह क्या कीता
वेद कितेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जोनि विचारै
सब घटि एक एक जानै सो दूजा करि मारै
कुकुड़ी मारै बकरी मारै इकहक करि बोलै
सबै जीव साँई के प्यारे, उबरहुगे किस बोले
दिल नहिं पाक पाक नहीं चीन्हा उसदाँ खोज न खाना
कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मनमाना

इसके स्थान पर वे "आंतरिक साधना" पर बल देते हैं—

पढ़ ले काज़ी बंग निवाजा
एक मसीति दसौं दरवाजा ॥टेक॥

मन करि मका कबिला करि देही, बोलनहार 'जगतगुरु' में ही
उहाँ न दोजग भिस्त मुकामाँ, इहाँ ही राम इहाँ रहिमानाँ
बिसमल तापस भरम क दूरी, पचूं भषि ज्यूं होइ सदूरी
कहै कबीर मैं भया दिवाना, मनवा मुसि मुखि सहजि समाना

सूफ़ीमत स्वयं वाह्याचारों को नहीं मानता था, अतः कबीर को उससे विशेष कहना नहीं था। योगपंथ के वाह्याचार भी उन्हें अमान्य थे, उनका भी उन्होंने खंडन किया। उन्होने उसके वाह्याचारों के स्थान पर उसकी मूल साधना को प्रतिष्ठित किया—

अवधू जोगी जग मैं न्यारा
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा
बसै गगन में दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा

"अवधू" या "अवधूत" के प्रति कहे पदों में यही आभ्यंतरिक योगसाधना की प्रतिष्ठा है, वाह्याचारों का खंडन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने सब प्रचलित धाराओं के वाह्याचारों का विरोध किया और उन्हें उनके मूल सिद्धान्तों की ओर आकर्षित करना चाहा जिनमें मदभेद नहीं था। अब यह देखना है कि उनके मतवाद में प्रचलित धारणाओं का कितना योग है।

(१) अद्वैतमत—कबीर अद्वैत को मानते हैं। माया की सत्ता में भी उन्हें विश्वास है। एक तरह उनका ज्ञान और उपदेश शंकर अद्वैत ही है। जीव और ब्रह्म एक ही हैं। माया ने भेद डाल दिया है। इस भेद के मिटने पर अभेदावस्था की प्राप्ति सम्भव है। अद्वैत के ब्रह्म की भाँति कबीर का राम, सूक्ष्म, निर्गुण या गुणातीत निराकार और निलिप्त है।

(२) विशिष्टाद्वैत—कबीर विशिष्टाद्वैत की भाँति द्वैतसत्ता तो नहीं मानते परन्तु भक्ति को स्वीकार करके साधनावस्था की

चरम सीमा तक पहुँचने तक अद्वैत भाव लेकर चलते अवश्य हैं। वास्तव में शांकर अद्वैत में भी भक्ति को स्थान मिला है। इस प्रकार की भक्ति "निर्गुणभक्ति या ज्ञानाश्रयी भक्ति या अद्वैतभक्ति" कहलाती है। कबीर राम को मानते हैं परन्तु निर्गुण अर्थों में; दाशरथि राम उन्हें अमान्य हैं।

(३) कबीर राम, कृष्ण, गोविंद, हरि—कितने ही नाम लेकर उनका प्रयोग समानार्थक रूप से निर्गुण ब्रह्म के लिए करते हैं। नाम की महिमा उन्होंने भी उतनी ही मानी है, जितनी भक्तसंप्रदायों ने। इसी प्रकार गुरु की महिमा भी बड़ी है। गुरु से ही तो नाम और ईश्वरज्ञान की प्राप्ति होती है। तुलसी ने कहा है—"ब्रह्म राम से नाम बड़" यह कबीर भी मानते हैं।

(४) सूफियों की विरहसाधना उन्हें स्वीकार है। वास्तव में रामानुजा भक्ति और सूफियों की विरहसाधना में बहुत भेद भी नहीं है। वैष्णव धर्म में भक्ति का वही स्थान है जो सूफीमत में विरह (इश्क) का। इसी से कबीर की वैष्णव-भावना से इसका विरोध नहीं पड़ता।

(५) कबीर योग की आभ्यंतरिक साधना को स्वीकार कर लेते हैं; नाथपंथियों के पारिभाषिक शब्दों को भी मान लेते हैं! वैष्णव-भावना के बाद कबीर के मतवाद में योग को ही स्थान मिला है, परन्तु उनका झुकाव सहजयोग की ओर ही अधिक है। कुण्डलिनी, सुषुम्ना आदि के सम्बन्ध में बहुत कहा गया है, परन्तु जो कहा गया है वह कोई महत्त्वपूर्ण तात्त्विक अर्थ नहीं रखता।

इस दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि कबीर की सारग्रहणी प्रवृत्ति ने मध्ययुग की समस्त मुख्य धार्मिक धाराओं को आत्मसात कर एक सामान्य भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की है जो बाह्याचारों और जातिभेद से ऊपर उठ कर सब मनुष्यों

के लिए एक समान उपादेय है। परन्तु स्वयं वैष्णव धर्म इस प्रकार का एक सामान्य धर्म स्थापित कर रहा था। अतः उसमें और कबीर के मतवाद में अधिक भेद नहीं है। भेद इतना ही है कि वैष्णवमत सगुणोपासना को स्वीकार करता है, योग की साधना को किसी भी रूप में नहीं मानता, बल्कि उसका कठिन रूप से विरोध करता है जैसा कृष्ण-काव्य के भ्रमरगीतों से दृष्टव्य है। इसके अतिरिक्त वैष्णवमत शास्त्रों और पुराणों का सहारा लेता हुआ चलता है। सगुणोपासना के कारण वैष्णव मत में रूपा भक्ति, अवतारवाद, कर्मकांड (नित्य और नैमित्तिक पूजाकर्म), मूर्तिपूजा आदि कितने ही ऐसे विषय आवश्यक हो गये हैं जो कबीर को मान्य हैं ही नहीं। परन्तु दोनों एक ही प्रकार आचार-प्रधान हैं, अहिंसक हैं, गुरु की दोनों में एक सी महत्ता है, भक्ति एक ही रूप में स्वीकृत है, नाममाहात्म्य और नामस्मरण एक ही प्रकार महत्त्वपूर्ण है।

कबीर के अतिरिक्त रामानन्द के कुछ अन्य शिष्यों की बानियाँ भी प्राप्त हैं। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीरमत कबीर का सोलह आना मौलिक मत नहीं था। अन्य शिष्यों में भी इसी प्रकार की विचार-धारा मिलती है। वे सब "निर्गुणिए" हैं। —निर्गुण राम के भक्त हैं। तीर्थ-व्रतादि नहीं मानते। सहज सुन्न आदि योगपंथ के शब्दों का प्रयोग करते हैं और नाथपंथियों के कलाली आदि (मद्यपान) की साधना के व्यक्त करने का ढंग बताते हैं। रैदास स्वयं कहते हैं—

देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला ॥ टेक
हेरे कलाली तैं क्या कीया, सिरका सातैं प्याला पीया
कहे कलाली प्याला देऊँ, पीवनहारे का सिर लेऊँ
चंद सूर दोउ सनमुख होई, पीवै प्याला भरै न कोई
सहज सुन्न में भाठी राखै, पीवैं रैदास गुरुमुख दाखै

इन सबमें योगपंथ और वैष्णवमत का सामञ्जस्य है। रामानन्द का प्रचार-केन्द्र काशी था। उनके शिष्यों का योगमत के प्रभाव से बचा रहना असंभव था जो उनके समय में सबसे बलशाली था। परन्तु कबीर में और इनमें कुछ अंतर भी है। कबीर की तरह ये बाह्याचारों का इतना विरोध नहीं करते। ये खंडनात्मक नहीं हैं। कबीर का बाह्याचारों का तीव्र विरोध उनकी मौलिकता है यद्यपि इस प्रकार के विरोध की परंपरा बुद्ध के समय से चली आती है और साहबा आदि सिद्धों ने भी जातिभेद का घोर विरोध किया है। रामानन्द के अन्य शिष्यों में मुसलमानी मत के बाह्याचारों का खंडन नहीं है। मुसलमानी मत से उनका विशेष संबंध नहीं था। कबीर मुसलमान थे। अतः उनकी दृष्टि उस पर बराबर रहती थी। अन्य में सूफ़ी भावना का मिश्रण लगभग नहीं है। कबीर में थोड़ी मात्रा में सूफ़ी भावना मिल सकती है यद्यपि वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। यदि हम गहरा विचार करके देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि कबीर के मतवाद की रूपरेखा स्पष्ट करने वाली दो वस्तुएँ हैं। पहली वस्तु है उनका मुसलमान वंश में जन्म लेना जिससे उनमें खंडनात्मक असहिष्णुता विशेष मात्रा में है। दूसरी चीज है उनका अपना व्यक्तित्व। इस व्यक्तित्व का विश्लेषण हमने अन्यत्र किया है।

परन्तु संतकाव्य में निर्गुण भावना कहाँ से आई, यह भी देखना है। इस निर्गुण भावना की परंपरा में पहले नामदेव का नाम आता—

आपुन देव देहरा आपुहि आप लगावै पूजा
जल ते तरँग तरँग ते है जल कहन सुनन को दूजा
आपुहि गावै, आपुहि नाचै, आपु बजावै तूरा
कहत नामदेव मेरो ठाकुर जन ऊरा तू पूरा

इसके बाद हमें स्वयं रामानन्द का एक पद मिलता है जिसमें निर्गुण रंग स्पष्ट है—

कत जाइये रे घर लायो रंग
मेरा चित न चलै मन भयो चंग
एक दिवस मन भई उमंग
घसि चोत्र्या चंदन बहु सुगंध
पूजन चली ब्रह्म ठाँय
सो ब्रह्म बतायो गुरु मनहिं माँहि
जहँ जाइये तहँ जल परवाँन
तू पूर रह्यो है सब समान
वेद पुरान सब देखे जोय
उहाँ तो जाइये जो इहाँ न होय
सतगुरु मैं बलिहारी तोर
जिन सफल निकल भ्रम काटे मोर
रामानंद स्वामी रमत फ्रम ब्रह्म
गुरु का सबद काटे कोई बरम

यदि हम इतिहास को और पीछे ले जायें तो निर्गुण भावना को नाथों और उनके पीछे उपनिषदों में ढूँढ़ा जा सकता है। पीपा का एक पद है—

काया देवल काया देवल काया जंगम जाती
काया धूप दीप नैवेदा काया पूजों पाती
काया बहु खंड खोजने नव निद्धी पाई
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दुहाई
जो ब्रह्मंडे सोइ पिंडे जो खोजे सो पावे
पीपा प्रनवे परम तत्त्व ही सतगुरु होय लखावै

यह "पिंड में ब्रह्मांड" की खोज निश्चय ही योग और उपनिषद की विचारधारा है जो निर्गुण भावना का बीजमंत्र है। ब्रह्म घट-घट व्यापी है, वहीं उसकी प्राप्ति हो सकती है, अतः भटकना

भ्रम है। योग की कुण्डलिनी को जगाने और सहस्रार तक पहुँचने का सारा ढाँचा इसी "काया मद्धे ईश्वर वासा" सिद्धान्त पर खड़ा है। इसी निर्गुण को योग में "निरंजन" "अलख निरंजन" आदि कहा है।

नामदेव के पद से स्पष्ट होता है कि संतमत की प्रधान भावना का जन्म महाराष्ट्र में हुआ। नामदेव के पूर्व महाराष्ट्र नाथ-पंथियों का अखाड़ा था। ज्ञानदेव, गाहिनीनाथ के शिष्य थे जो गोरख की ५वीं शिष्य-परंपरा में था। अतः इस प्रदेश में निर्गुण ब्रह्म भावना चल रही थी। नाथपंथियों का मुख्य केन्द्र गोरखपुर का प्रदेश था। इतनी दूर के प्रदेश में योग के वाह्याडंबर को प्राधान्य नहीं मिल सकता था। अतः नामदेव में योगपंथ शुद्ध रूप में नहीं है। उसमें भक्ति की भावना भी नहीं है यद्यपि नामदेव के सगुणोपासना संबंधी पद मिलते हैं, जैसे

दशरथ राय नंद राजा मेरा रामचन्द्र
प्रणावै नामा तत्त्व अमृत पीजै

परन्तु वे उपासक थे, "भक्त" नहीं। रामानन्द इसी प्रदेश से भक्ति भवना उत्तर को ले गये। अतः वे योगपंथ के सामान्य वातावरण से प्रभावित थे जैसे उपर्युक्त पद से प्रगट होता है। साथ ही वे सगुण राम के भक्त भी थे। परिस्थिति बहुत कुछ नाम देव की-सी थी। परन्तु यहाँ उपासना का स्थान भक्ति ने ले लिया था यद्यपि भक्ति सगुण राम के प्रति थी। संभव है उनके व्यक्तित्व में ही निर्गुण और भक्ति का मिश्रण हुआ हो। परन्तु उनके शिष्यों में अवश्य निर्गुण और भक्ति का मिश्रण पाया जाता है। इसके कारण कई हैं—

(१) इन शिष्यों में से अधिकांश निम्न वर्ग के थे जो सगुणोपासना से परिचित नहीं थे।

(२) इन पर योगियों का भी अधिक प्रभाव था। अतः इनकी भक्ति में योगपंथियों की निर्गुण-निरञ्जन भावना का अधिक भेद होना आवश्यक था। फिर भी कबीर को छोड़ कर अन्य में विनय-भक्ति ही अधिक है, ज्ञान-भक्ति नहीं। अतः उनके विनय-पदों में निर्गुण का रूप ऊपर नहीं उभरता। वे सगुण और निर्गुण की सीमा पर खड़े हैं।

कबीर साधक भी हैं, परन्तु साधक से अधिक धर्म-प्रचारक थे। अतः उन्होंने स्पष्ट रूप से निर्गुण को अपनाया, यही नहीं उन्होंने सगुण राम के स्थान पर निर्गुण को स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित किया। उन्होंने योगसाधना के सहजरूप को भी ग्रहण किया। इस प्रकार उन्होंने निर्गुणोन्मुखी ज्ञानाश्रयी अद्वैतभक्त को जन्म दिया और अद्वैतावस्था की प्राप्ति के लिये भक्ति और योग की सहजसाधना को स्वीकार किया। इस भक्ति में विरहासक्ति की मात्रा इतनी अधिक है कि इसमें और सूफ़ियों के इश्क में विशेष अंतर नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह सूफ़ियों के प्रभाव के कारण था। अधिक संभव यह है कि यह वैष्णव भक्ति-पंथ का अधिक विकसित रूप है। उन्होंने विशेष कारणों से जाति-भेद, वर्ण-भेद और सब धर्मों के वाह्याचारों का घोर विरोध किया। वास्तव में कबीर में वैष्णव भावना का ही विकास है, यद्यपि वह विशेष परिस्थितियों के कारण रूपरंग में कुछ भिन्न हो गया है। उसमें योग-साधना और "निर्गुण" का समावेश है जो मूल वैष्णव भावना से विरुद्ध पड़ते हैं।

कबीर का मत जिस रूप से हमारे सामने है उसके तीन अंग हैं: (१) खण्डनात्मक—वाह्याचारों का खण्डन, उनका विरोध, उनकी उपेक्षा ; "आनदेव की पूजा," कनक-कामिनी, निद्रा, स्वादिष्ट आहार, मांसाहार, नशा, तीर्थव्रत, दुर्जन (कुसंग) का त्याग, (२) विधेयात्मक—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और

अहंता, कपट, आशा, तृष्णा, परनिंदा आदि का त्याग और सत्संग, मौन, सत्यकथन, उदारता, शील, क्षमा, संतोष, धीरज, दीनता, दया, विचार, विवेक, अहिंसा का संग्रह। इसके अतिरिक्त ईश्वर में विश्वास, सत्पुरुष का ज्ञान, नामस्मरण, अनहद शब्द की प्राप्ति, भक्ति, और विरह की एकांत साधना (पतिव्रता प्रेम), सुरत और सहज की साधना। (३) व्यावहारिक—सब में समदृष्टि, भेदभाव (जाति-वर्ण) का नाश, सारग्रहण। यदि हम ध्यान दें तो इनमें से पहले और दूसरे के कुछ विषय वैष्णव-मत में नहीं आते। अनहदनाद की प्राप्ति एवं सुरत और सहज की साधना योगपंथ का अवशेष है। शेष में किसी प्रकार भी वैष्णव भावना का विरोध नहीं है। वास्तव में इन्हीं स्थलों पर सगुण और निर्गुण भक्त सामान्य भूमि पर मिलते हैं। कबीर ने आचारों की शुद्धता पर जो बल दिया है वह भारतीय धर्मचिंता के इतिहास में अभूतपूर्व है। अंधकारयुगीन तत्कालीन और परवर्ती समाज में पूत-भावना भरने का श्रेय उन्हें ही है।

६

कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त

कबीर के दार्शनिक सिद्धांतों के सम्बन्ध में रूपरेखा को छोड़कर किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों तक पहुँचना कठिन है। कबीर की साखियों और शब्दों में ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त मिलते हैं जो परस्पर विरोधी हैं। इस अनिश्चितता के कई कारण हो सकते हैं—

(१) हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि कौन पद कबीर के हैं और कौन प्रक्षिप्त हैं। कबीर के नाम से इतना बड़ा साहित्य बन गया है कि कबीर के मूल सिद्धांतों तक पहुँचना कठिन हो गया है।

(२) हो सकता है कि कबीर के काव्य में उनके विकास के कई धरातलों की तह जम गई है। यदि हमें कबीर की सामग्री उसी क्रम से लिखी मिल जाय जिस क्रम से उसकी रचना हुई थी तो अवश्य हम निश्चित सिद्धांतों पर पहुँच जायें।

(३) जैसा हम कई स्थलों पर कह चुके हैं संतों और भक्तों का सिद्धांत यह था कि

'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता'

हो सकता है कि कबीर ने सत्य तक पहुँचने के कई मार्ग स्वीकार किये हों।

(४) भक्ति, श्रद्धा और विश्वास में विरोधी तत्त्वों का सामञ्जस्य हो जाता है। मुख्य बात है आत्मदर्शन। इसका तो कोई रूप ही निश्चित नहीं हो सकता।

जो हो हमें यहाँ कबीर के दार्शनिक सिद्धांतों की खोज अवश्य करना है। कई शताब्दियों तक भारतीय जनता की मनीषा पर कबीर का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। उसे छोटा करके देखना संभव नहीं है।

१. ब्रह्म (करता)

साधारण रूप से कबीर अद्वैत के पक्षपाती हैं। उनके साहित्य से ऐसे सैकड़ों पद निकाले जा सकते हैं जो अद्वैतवाद को ही हमारे सामने रखते हैं। वे कहते हैं—

मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर
तेरा तुझको सौंपते क्या लागैगा मोर
तेरा तुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो मोर
मेरा मुझको सौंपते, जी धड़केगा तोर

यह अद्वैत मनोस्थिति की पराकाष्ठा है।

वह निगुर्ण ब्रह्म के उपासक हैं, परन्तु केवल यही भर कह देने से काम नहीं चलता। कबीर निर्गुण और सगुण के परे की चिन्मय सत्ता की कल्पना करते हैं। सगुण "हद" है, निर्गुण बेहद है, परन्तु कबीर आगे बढ़ कर कहते हैं—

हद में रहै सो मानवी बेहद रहै सो साध
हद बेहद दोऊ तजै, ता का मता अगाध

इसी को दूसरे शब्दों में कहते हैं—

नाद बिन्दु तें अगम अगोचर,
पाँच तत्व ते न्यास
तीन गुनन तें भिन्न है
पुरुष अलख अपार

कहने का तात्पर्य यही है कि ब्रह्म विरोधी-धर्माश्रय, विलक्षण और अनिर्वचनीय है। सर्वव्यापी है वह—

सकल माँड में रमि रहा मेरा साहब राम

परन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है—

पुहुप बास तें पातरा ऐसा तत्त्व अनूप

उसके संबंध में कबीर निश्चित रूप में इतना ही कह सकते हैं—

राम कै नाँइ नीसान बागा, ताका मरम न जानै कोई
भूख-त्रिषा-गुण वाके नाहीं, घट घट अन्तरि सोई
वेद विवर्जित भेद—विवर्जित . विवर्जित पाप अरु पुण्य
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित, विवर्जित आस्थूल सून्य
भेष विवर्जित भीख विवर्जित, विवर्जित उचंभक रूप
कहै कबीर तिहुँ लोक विवर्जित, ऐसा तत्त अनूप

इस 'तत्त अनूप' को कबीर अनेक नामों से पुकारते हैं। कुछ नाम उपनिषदों और नाथपंथियों से लिये गये हैं, कुछ निरञ्जन सम्प्रदाय से (निरंजन). कुछ नये गढ़े नाम हैं (साहब, अलख, अच्छे पुरुष) इसके अतिरिक्त कबीर भगवान (हरि) और अवतारों के पौराणिक नामों का भी निगुण अनुपम सत्ता के संदर्भ में उपयोग करते हैं। इन सब में राम नाम उन्हें सर्वाधिक प्रिय है, परन्तु जहां उन्होंने "दशरथ के पुत्र" राम का उल्लेख किया है, वहाँ उन्हों ने सगुण रामोपासना का खन्डन ही किया, जैसे

दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना
राम नाम का मर्म है आना

निम्नलिखित पद में अवतारवाद का स्पष्ट विरोध है—

ता साहिब कै लागौं साथा। दुख सुख मेटि जो रह्यौ अनाथा
नाँ दसरथ घरि औतरि आवा। नाँ लंका का रॉव सतावा
देवै कूख न औतरि आवा। नाँ जसवै लै गोद खिलावा
ना वो ग्वालन के संग फिरिया। गोबरधन ले ना कर धरिया
बाँवन होय नहीं बलि छलिया। धरनी देह लेन ऊधरिया
गंडकसालिगराम न कोला। मच्छ-कच्छ है जलहि न डोला

बद्री बैठा ध्यान नहि लखा। परसराम है खत्री न सतावा
द्वारमती सरी न छाड़ा। जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा
कहै कबीर विचार करि, ये अले व्यवहार
याहीं थे जे अगम है, सो वरति रह्या संसार

कभी-कभी कबीर राम और अच्छै पुरुष को सबसे ऊँचा बताते हैं जैसे

अच्छे पुरुष इक पेड़ है निरंजन वाकी डार
तिरदेवा साखा भया, पात भया संसार—

यदि हम कबीर की "निर्गुण" भावना का विश्लेषण करें तो यह केवल "गुणों" का अभाव नहीं ठहरता, बल्कि वे "गुणातीत" को निर्गुण कहते हैं—

संतौ धोखा कासूं कहिये
गुन मैं निरगुन निरगुन मैं गुन बाट छाँडि क्यूँ बहिये
अजरा-अमर कथै सब कोई -अलख न कथणाँ जाई
नाति-स्वरूप-वरण नहिं जाके घटि घटि रह्यौ समाई
प्यंडब्रहमंड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अंत न हो
प्यंड ब्रह्मण्ड छाँडि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई
(क० ग्रं० १८०)

उसे सुन्दरदास ने "अनंत अभाव" कहा है, परन्तु कबीर "भाव-अभाव-विहीन" कह कर बात को और भी आगे बढ़ा देते हैं—

कह्या न उपजै उपजाँ नहिं जान भाव अभाव बिहूँना
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाही सहजि राम ल्यौ लीना
(क० ग्रं० १७६)

वास्तव में वह आत्मज्ञान का विषय नहीं है, अनुभव का विषय है, इसीसे कुछ कहा नहीं जाता—

बाबा अगम-अगोचर कैसा, तातें कहि समुझावौं ऐसा

जो दीसै सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई
सैना-बैना कहि समुझाओं गूँगे का गुड़ भाई
दृष्टि ने दीसै मुष्टि न आवै विनसै नाहिं नियारा
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे पंडित करो विचारा

और भी—

अविगत-अकल-अनूपम देख्या कहताँ कह्या न जाई
सैन करे मन ही मन रहसै गूँगे जानि मिठाई

संक्षेप में कबीर की निर्गुण भावना इन पदों से पूरी तरह प्रगट हो जाती है—

(१) अलह अलख निरंजन देव, किहिं विधि करौं तुम्हारी सेव ॥टेक॥
विश्व सोई ताको विस्तार, सोई कृस्न जिनि कीयों संसार
गोब्यंद ते ब्रहमंडहि गहै, सोई राम जे जुगि जुग रहै
अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोलै सोई खुदाई
लख चौरासी रब परवरै, सोई करीम जे एती करै
गोरख सोई जो साधै इती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती
सिध साधू पैगंबर हूवा, जपै सु एक भेष है जूवा
अपरंपार का नाऊ अनंत, कहै कबीर सोई भगवंत

(२) गोब्यंदे तूँ निरंजन तूँ निरंजन तूँ निरंजन राया
तरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं मया

× × ×

तेरी गति तूँहीं जाँनै कबीरा तो सरना (१२६)

कबीर ने ईश्वर की एकात्मरूपता का प्रचार किया। उन्होंने साम्प्रदायिक दृष्टि से राम, हरि, सारङ्गपाणि, यादवराय गोपाल आदि नामों का प्रयोग किया और तात्त्विक दृष्टि से इन्हें ही साहब, राउर, खसम आदि कहा, परन्तु उन्होंने इनमें भेद नहीं रखा है। राम से कबीर का अभिप्राय निर्गुण ब्रह्म से है, यह

ात अनेक पदों से प्रगट होती है जैसे निर्गुण राम, निर्गुण ाम जपहु रे भाई, अथवा हृदया बसे तेहि राम न जाना। परन्तु नेर्गुण से भी उनका तात्पर्य निर्गुण-सगुण से परे की सत्ता है। ाषा के अभाव में कबीर या तो उसे गूँगे का गुड़ कह कर रह ाते हैं या उसे सतलोक का रहने वाला सत्पुरुष कहते हैं। न्होंने उसे "सुन्न" (शून्य) भी कहा है और हृदय में रहने ाले भवन गुंफा का रहने वाला भी कहा है! नाथों की ारिभाषा को स्वीकार करते हुये वे उसे गगनमण्डल में रहने वाला भी कहते हैं। सहज, ओंकार, इच्छा, सोहम, अचिंत्य, अक्षर, नेरंजन सभी एक ही अग्राह्य तत्त्व के द्योतक हैं।

२. ईश्वर

कबीर स्पष्ट ही बहुदेववादी, मूर्तिपूजक सगुणोपासक अवतार-ादी नहीं हैं। उनके काव्य में इन सबका बारबार खंडन है। कबीर का कहना है कि नाम में क्या है, नाम के पीछे जो एक चेतसत्ता है, वही सब कुछ है। नाम रूप से ही वह अच्युत अनिर्वचनीय ब्रह्म ईश्वरत्व को प्राप्त होता है।

परन्तु तब कबीर का ईश्वर-विषयक सिद्धांत क्या है ? मेकनिकल (Macnical) का कहना है कि कबीर को ईश्वर के व्यक्तित्व (Personality of God) में विश्वास है। उनके मत में कबीर ईश्वरवादी है। भांडारकार का भी यही मत है— 'The religion which Kabir promulgated was a pure sqiritual theism." वेस्काट (Wescott) भी यही कहते हैं। बीजक की कितनी ही कविताओं में कबीर निर्गुण ब्रह्म (राम) में गुण का आरोप करते हैं—

राम गुन न्यारो न्यारो न्यारो
अबुझा लोग कहाँ लौं बूझै, बूझनहार विचारो
(बी० १८)

यह स्पष्ट है कि कबीर का ब्रह्म वेदांत का निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म नहीं है। कबीर ने कितने ही पदों में उसे कर्त्ता कहा है। संसार की स्थिति और प्रलय उसी के कार्य हैं। अद्वैत का ब्रह्म अपने में पूर्ण है। उसे हमारी उपासना की आवश्यकता नहीं है, न भक्ति की। कबीर का ब्रह्म (राम) ऐसा नहीं है। वह बंदे के साथ है। वह भक्तवत्सल है।

कबीर के भक्त-हृदय के आत्मदर्शन में निर्गुण गुणमय हो गया है। रहस्यवादी चिन्मयसत्ता के अन्यतम संपर्क में आता है। दार्शनिक ज्ञान और तर्क जहाँ नहीं पहुँच सकते, वहाँ अनुभूति की पहुँच है। कबीर के विरह और मिलन के पद उनकी भक्ति और उनके रहस्यवाद को हमारे सामने रखते हैं। इन पदों में निर्गुण में अत्यंत मधुर गुणों का आरोप हो गया है। तीन प्रकार से निर्गुण में ईश्वरत्व का आरोप है १. कर्तापन, २. पुष्टि, ३. भक्ति वत्सलता। इसी से कबीर में भक्ति की योजना है। इस प्रकार ये ईश्वरवादी हो जाते हैं ब्रह्मवादी नहीं रह पाते।

भक्ति के लिए ब्रह्म की सत्ता जीव से भिन्न होनी चाहिये। इस प्रकार ईश्वरवाद का आधार विशिष्टाद्वैत है, अद्वैत नहीं। कबीर बार-बार "अद्वैत" चिल्लाते हैं—एक मूलसत्ता की ओर इशारा करते हैं यहाँ तक कि कभी वे कहने लगते हैं कि उपास्य और उपासक एक ही है, अतः उपासना सम्भव भी नहीं है। यह एकता हमारी आँखों से हमारे ही अज्ञान (अविद्या) के कारण ओट हो जाती है। इसको स्पष्ट करने के लिए कबीर पगपग पर वेदांत का प्रिय दृष्टांत देते हैं। यह अज्ञान का परदा हटने पर ही हमें उसके दर्शन होंगे जो निर्विशेष, निर्गुण और निःसीम है।

कबीर के राम प्रेममय हैं, इच्छामय हैं, क्रियामय हैं। वे भक्त के दुःख को जानते हैं। कबीर कहते हैं—

जननी पीर हो राजा राम जानैं कहूँ कहिको मानै
नैन का दुख बन जानैं बैन का दुख श्रवना
प्यंड का दुख प्रान जानैं प्रान का दुख मरना
श्रास का दुख प्यास जानैं प्यास का दुख नीर
भगति का दुख राम जानैं कहै दास कबीर (६८६)

यही नहीं, जिस तरह भक्त भगवान की ओर प्रगतिशील है, इसी तरह भगवान भी भक्त की ओर प्रगतिशील है। उसमें विरह की व्यथा वही जगाता है, नहीं तो क्षुद्र मनुष्य कैसे जागेगा। यह भगवदनुग्रह की भावना निर्गुण और सगुण दोनों मतों में एक ही जैसी बलवती है। कबीरदास का एक पद है—

सतगुरु हो महाराज मोपै साँई रंग डारा
शब्द की चोट लगी मेरे मन में बेध गया तन सारा
औषध मूल कछु नहिं लागै क्या करै बैद बेचारा
सुर-नर-मुनिजन-पीर औलिया कोइ न पावै सारा
साहेब कबीर सर्व रँग रँगिया सब रँग से रँग न्यारा

उनका प्रेम अकथ कहानी है—

अकथ कहाँणी प्रेम की कछु कही न जाई
गूँगेकेरी सरकरा बैठे मुसकाई १५६

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की भक्तिभावना के कारण निर्गुण ब्रह्म (राम) में ईश्वरत्व का आरोप हो गया है। वास्तव में कबीर के ऐकेश्वरवाद को इसलामी ऐकेश्वरवाद समझ लेना भूल है। कबीर का ब्रह्म व्यापक है, घट-घट में रहता है, वही खलक (जगत) का रूप धारण करता है, वही जीव है। उसके खोजने के लिए दूर नहीं जाना पड़ता। इसमें विशिष्टाद्वैत की झलक हो तो घबड़ाने की कोई बात नहीं। जब तक भक्त साधना की अन्यतम अवस्था (सोहम्) तक नहीं पहुँच जाता, "सहज" में स्थित नहीं हो जाता, तब तक जीव ब्रह्म का भेद ही बना रहता

है। अद्वैत और भक्ति में विरोध भी नहीं है। शंकराचार्य अद्वैत के प्रवर्तक हैं, परन्तु उनके अत्यंत भक्तिपूर्ण श्लोकों से कौन परिचित नहीं है। जब निर्गुण से भक्ति (या उपासना) संभव है, तो उसमें गुणों का आरोप संभव क्यों नहीं है ? निर्गुण और सगुण से परे चिन्मय सत्ता को प्रेम का विषय बनाना कबीर की मौलिकता है। जब तुलसी विश्वस्त होकर कह सकते हैं कि "सगुणहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा" तो कबीर भी कह सकते हैं कि देह में रमता हुआ राम भक्ति का विषय हो सकता है। वह तर्क का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है।

३. जीव

जीव के संबंध में कबीर मूलतः अद्वैत स्थिति स्वीकार करते हैं। उन्होंने जीव ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा की एकता को स्वयं सिद्ध माना है। परन्तु भेद का कारण है अज्ञान। इस अज्ञान का जन्म अविद्यारूपी माया से होता है। जीवात्मा कंचन-कामिनी में पड़ कर अपनी मूल ईश्वरीय कृति को भूल जाता है। हरिकृपा और हरिभक्ति के द्वारा मूल स्थिति का ज्ञान होने पर जीव ब्रह्म में मिल कर एकाकार होता है, परन्तु वह मिलन के आनन्द का साक्षी भी रहता है। जीव-ब्रह्म का संबंध इन उक्तियों से स्पष्ट हो जाता है।

(१) सोहं हंसा एक समान (५३)

(२) मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब

मेरी बिलगि-बिलगि बिलगाई हो,
कोई कहौ कबीर कोई कहौ रामराई हो ॥ टेक ॥
नाँ हम बार बूढ़ नाहीं हम, नाँ हमरै चिलकाई हो
पठए न जाऊँ अरवा नहीं आऊँ, सहजि रहुँ हरिआई हो
वोढ़न हमरै एक पछेवरा, लोक बोलैं इकताई हो
जुलहै तनि बुनि पाँन न पावल, फारि बुनी दस ठोई हो

त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल, तब हमारौ नाँउँ रामराई हो
जग मैं देखौं जग न देखै मोहिं, इहि कबीर कछु पाई हो

(३) हम तौ एक एक करि जाना
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग, जिन नाहिंन पहिचाना

(४) जल में कुंभ कुंभ में जल, है बाहरि भीतर पानी
फूटा कुंभ जल जलहि समाँना यहु तत कथौ गियानी

परन्तु भक्ति के लिए कबीर को जीव ब्रह्म का महत्व भी मान्य है। वे कहते हैं—

तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मीना,
जल मैं रहौ जलहिं बिन सीना
तुम्ह प्यंजरा मैं सुवना तोरा,
दरसन देहु भाग बड मोरा (१२०)

कबीर ने अविद्याबद्ध आत्मा को "अभागिनि नारि", 'विरहिनी" "पिंजरे में बंद सुग्गा" आदि कहा है परन्तु आत्मा की अद्वैतावस्था का आनन्दमय वर्णन भी अद्भुत है। इस अवस्था में आत्मा को मिलनानन्द होता है या नहीं, वह ऐक्य को प्राप्त होकर भी साक्षीभूत कैसे रहता है, यह हम नहीं जानते। जिन्होंने इस मनोस्थिति का अनुभव किया है वे ही हमारे लिए प्रमाण हो सकते हैं। इस मिलन के आनन्द का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं—

बहुत दिनन थै मैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े घरि बैठे आये ॥ टेक ॥

मंगलचार माँहिं मन राखौं, राम रसाँइण रसनाँ चाखौं
मंदिर माहिं भया उजियारा, ले सूती अपना पीव पियारा
मैं रनिरासी जे निधि पाई, हमहि कहायहु तुमहि बड़ाई
कहै कबीर मैं कछु न कीन्हा, सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा

४. माया

कबीर की माया सम्बन्धी धारणा शंकराचार्य की माया सम्बन्धी धारणा से बहुत भिन्न नहीं है। शंकर के अनुसार माया ब्रह्म की जवनिका है। परन्तु यह आवरण मिथ्या है, अज्ञानमूलक है, अविद्या है, यह वे पद-पद पर बता देते हैं। सत्य केवल ब्रह्म है। उसे छोड़ कर जो कुछ है, वह सब अविद्याजन्य होने के कारण भ्रम-मात्र है। इसे ही सीप में रजत का आभास, मृगजल, रज्जु में सर्प की कल्पना जैसे उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है।

तुलसी की तरह कबीर भी माया को भगवान (ब्रह्म) से अभिन्न और उनकी दासी मानते हैं—

माया मेरी अर्धसरीरी औ' भक्तन की दासी

माया के अविद्यामूलक ध्वंसात्मक रूप का कबीर ने सुन्दर चित्रण किया है। वह अहेरिन है।[1] काम, क्रोध, लोभ, अहंकार मान-बड़ाई माया के ही रूप हैं।[2] कामिनी और कंचन के रूप में यह

[1]तू रघुनाथ की खेलणा चली अहेड़ै
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोई न छोड्या नैड़े
मुनिवर पीर-दिगम्बर मारे जतन करंता जोगी
जङ्गल महि के जंगम मारै तूँ र फिरे बलवंती
वेद पढंता ब्राह्मण मारा सेवा करंता स्वामी
अरथ करंता मिसर पछाड्या तूँ र फिरै मैनंती
साषित कै तूँ हरता करता हरि भगतन की चेरी
दास कबीर राम कै सरनैं ज्यूँ लागी त्यूँ तोरी (१८७)

[2]अवधू, माया तजी न जाई
गिरह तज के बिस्तर बाँधा, बस्तर तज के फेरी
काम तजे तें क्रोध न जाई, क्रोध तजे ते लोभा
लोभ तजे अहंकार न जाई, मान बड़ाई सोभा

संसार में ऊधम मचा रही है।[३] यह रघुनाथ की माया है, उनके चरणों में प्रणत होने से ही इसके छलावा से छुटकारा हो सकता है।[४] कबीर माया को महाठगनी भी कहते हैं।[५] तीन गुण[६], पाँच भूत[७] और पच्चीस तत्त्व।[८] माया के ही प्रसार हैं। इस माया-जाल से रक्षा करने वाले राम ही कबीर के आश्रय हैं।[९]

---

[३]राम तेरी माया दुंद मचावै
गति मति वाकी समुझि परै नहिं, सुरनर मुनिहिं नचावै
का सेमर के साखा बढ़ये, फूल अनूपम बानी
केतिक चातक लागि रहे हैं, चाखत रुवा उड़ानी
कहा खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहीं पावै
ग्रीखम ऋतु जब आई हुलसी, छाया काम न आवै
[४]अपना चतुर और को सिखवै, कामिनी-कनक-सयानी
कहै कबीर सुनौ हो सन्तो, राम-चरण-रति मानी
[५]माया महाठगनी हम जानी
तिरगुन फाँसी लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी
[६]सत्त, रज, तम ।
[७]पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ।
[८]पुरुष, अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, वर्ण, रस, गंध), ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ ।
[९]तुम्ह घरि जाहु हमारी बहना विष लागै तिहारे नैनाँ
अञ्जन छाड़ि निरंजन राते ना किसही का दैना
बलि जाऊँ ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक भाई इक बहना
राती खाँडी देखि कबीरा, देखि हमारा सिंगारो
सरग लोक मैं हम चलि आई, करन कबीर भरतारो
सर्गलोक मैं क्या दुख पड़िया, तुम्ह आई कलि याँही
जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहुँ पतीगौ नाँही

इस माया के विचित्र रंगढंग को कबीर तरह-तरह से वर्णन करते हैं।[१०] वे माया के उस सत्त्वगुण-प्रधान रूप पर अधिक बल नहीं देते जो भगवान से मिलाने का साधन है। अधिकांश पदों में जीव का उपाधिरूप अविद्यात्मक माया का ही वर्णन है।

५. ईश्वर प्राप्ति या अद्वैतावस्था की प्राप्ति के साधन

जीव प्रकृत्यः ब्रह्म है। इस अद्वैतावस्था की प्राप्ति में माया या अविद्या बाध है। इस अविद्या के नाश होने पर आत्मज्ञान का प्रकाश होता है और जीवात्मा अद्वैत की पहली सीढ़ी पर खड़ा होता है। इसी लिए कबीर ने अपनी साधना-पद्धति में ज्ञान को अत्यंत महत्त्व दिया है। ज्ञान से माया-रूपी भ्रम इस प्रकार नाश को प्राप्त होता है, इसे कबीर ने आँधी के रूपक के सहारे इस प्रकार लिखा है—

तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटंबर, अगर चंदन घसि लीना
आइ हमारै कहा करोगी, हम तौ जाति कमीनाँ
जिनि हम साजे साज्य निवाजे बाँधे काचे धागै
जे तुम जतन करौ बहुतेरा पाणि अग्नि न लागै
साहिब मेरा लेखा माँगै, लेखा क्यूँ करि दीजै
जे तुम जतन करौ बहुतेरा तो पाहण नीर न भीजै
जाकी मैं मछी सो मेरा मछ सो मेरा रखवालू
टुक एक तुम्हारे हाथ ल्याऊँ तौ राजाराम खिसालू
जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरैं उपासी
आसि पासि तुम्ह फिरि फिरि बैसौ एक माउ एक मासी

[१०] तुम बुझहु पंडित कौन नारि। कोई नाहि बिआइल रह कुमारि
येहि सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह। तेहि चारहुँ युग हरिसंग लीन्ह
यह प्रथमहि पद्मिनी रूप पाय। है साँपिन सब जग खेदि खाय
या बर युवती के बार नाह। अति तेज लिया है रैनिताह
कह कबीर सब जग पियारि। यह अपने बलकवै रहै मारि

संतौ भाई आई ग्यान की आँधी रे
भ्रम की टाटी सबै उड़ाँणी, माया रहै न बाँधी ॥ टेक
हिति चत की द्वै थूनी गिराँनी, मोह बलीड़ा तूटा
त्रिस्ना छानि परी घर ऊपर, कुबुधि का भाँडा फूटा
जोग जुगति करि संतौ बाँधी, निरचू चुवै न पाँणीं
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति तब जाणीं
आँधी पीछैं जो जल बूठा, प्रेम हरीजन मीनाँ
कहै कबीर भाँन के प्रगटें, उदित भया तम पीनाँ (१६)

कबीर के साहित्य का एक बड़ा भाग ही ज्ञानश्रित है—उसमें ब्रह्म, जीव, माया, वैराग्य जैसे विषयों पर अनेक प्रकार से गंभीर विचार प्रगट किये गये हैं।

परन्तु ज्ञान सब कुछ नहीं। वास्तव में वह बहुत भी नहीं है। कबीर स्पष्ट कहते हैं—

साखा ज्ञान, नाम है मूला
मूल गहें तें सब सुख पावै
डाल पात में मूल गँवावै

स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति ज्ञानाश्रित होती हुई भी ज्ञान से श्रेष्ठ है। जहाँ ज्ञान समाप्त हो जाता है वहाँ भक्ति का क, ख, ग शुरू होता है।

शांडिल्य सूत्र में कहा है—सा परानुरक्तिरीश्वरे (भक्ति ईश्वर-विषयक अनुराग है) नारद-सूत्र में इसे यों कहा गया है—सा त्वास्मिन् परमप्रेमरूपा (भक्ति परमप्रेम रूप है)। अन्य स्थान पर नारद ने भक्ति को "अमृत" कहा है। जीव-गोस्वामी का मत है—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माघनावृत्तम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

भक्ति है ईश्वर की ओर भक्त के व्यक्तित्व का प्रवाह, जिसका अंत होता है भक्त का आत्मसमर्पण। भागवत में उसे "अविच्छिन्न मनोरति" कहा है—

मनोरतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बधौ
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्

कबीर इसी भक्ति को लव (=लगन), विरह और प्रेम के नामों से भी पुकारते हैं।

भक्ति के लिए श्रद्धा और विश्वास की बड़ी आवश्यकता है। जहाँ दुविधा है, वहाँ प्रेम (भक्ति) हो ही नहीं सकता (संसय खाया सकल जग)। गीता भी कहती है—श्रद्धावान् लभते ज्ञान तत्पर: संयतेन्द्रिय:। कबीर ने भक्ति पर बहुत कुछ कहा है। भक्ति "खाँडे की धार" है। वह भीतर की वस्तु है, बाहर से नहीं आती। इसके लिए पहले विनम्रता और संयम का पाठ पढ़ना होगा—

भक्ति दुवारा साँकरा राई दसवें याव
मन ऐरावत ह्वै रहा, कैसे होइ समाव

भक्ति ही मुक्त की नसेनी है परन्तु भक्त ऊँची मनोस्थिति पर पहुँच कर मुक्ति भी नहीं चाहता। जहाँ जीव ब्रह्म एक है, वहाँ कौन किसको मुक्त करेगा? इसके सिवा भक्ति निष्काम (निहकाम) हो, सकाम नहीं। भागवत में भी कहा गया है कि भक्त का अहेतुक और अनिमित्त होना चाहिए। अनन्य होना चाहिये—

सवै पुंसा परो धर्मो मतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

भक्ति की उत्पत्ति कैसे हो? इस विषय में कबीर निश्चित हैं। सत्तनाम सुमरन से भक्ति की उत्पत्ति होती है। सत्तनाम हल से

जोत कर सुमिरन का बीज बोओ। खण्ड ब्रह्मांड में भले ही सूखा पड़ जाये परन्तु भक्ति का बीज नष्ट नहीं होता। यह भक्ति ही तीव्रता को प्राप्त कर लौ (लव) हो जाती है। भक्त स्वयं दीप-शिखा की भाँति जलने लगता है। इस लौ को जलाये रखने से ही एक दिन परमात्मा की प्राप्ति होगी—

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माँहि
ऐसे जन जग्त में रहै, हरि कौं, भूले नाँहि

यह लौ एक बार लगने पर हटती नहीं। कबीर ने चकोर और चातक के प्रतीकों से "लव" की भावना को सुस्पष्ट करने की चेष्टा की है। "लव" के बाद की साधना स्थिति है "विरह"। इस विरह की वेदना और इससे प्राप्त सुख को कबीर ने अनेक प्रतीकों के सहारे काव्य का विषय बनाया है। "घट सूना जिय पीव में" और मीन और जल की स्थितियाँ आदर्श हैं। इस विरह की व्यथा को सर्प-दंश, अग्नि, प्यास, जलती हुई बत्ती जैसे रूपकों से स्पष्ट किया गया है। यह विरह की साधना है बड़ी कठिन—

माटि तन का दिवला करौं, बाती मेलौं जीव
लोहू सींची तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव

इस कठिन साधना के फलस्वरूप ही परमात्मा भी प्रेमी (जीव) के लिए व्याकुल होकर दौड़ता है। इस विरह की अग्नि में तप कर ही भक्ति का सोना निखरता है—

आगि लगी आकास में, झरि झरि परे अँगार
कबीर जरि कंचन भया, काँच भया संसार

प्रेमपंथ की कठिनाइयों के वर्णन में कवि की यह साखी प्रसिद्ध ही है—

सीस उतारै भुइँ धरै, तापर राखे पाँव
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव

कबीर की भक्ति में भजन (नामस्मरण) और विरह की साधना की ही प्रधानता है। भक्त की मनोस्थिति का विशद वर्णन कबीर के काव्य में मिलेगा—

(१) अठहू पहर मतवाल लागी रहै
आठहू पहर की छाक पीवै
आठहू पहर मस्तान माता रहै
ब्रह्म के देह में भक्त जीवै

(२) भक्ति का मारग झीना रे
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे
साधन के रसधार में, रहै निसदिन भीना रे
राग में स्रुत ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे
साँई सेवन में हेत सिर, कुछ बिलम न कीना रे
कहैं कबीर मत भक्ति का, परगट कर दीना रे

अद्वैतावस्था प्राप्त भक्त का वर्णन है—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ?
हीरा पायो गाँठ गरिमायो बार बार वाको क्यों खोले ?

संक्षेप में हम देखते हैं कि कबीर ने ज्ञान और भक्ति के दो साधनों का सविस्तार वर्णन किया यद्यपि उन्होंने ज्ञान के ऊपर भक्ति को श्रेय दिया है। कबीर की भक्ति ज्ञानश्रयी भक्ति (या निर्गुण भक्ति) कहलाती है परन्तु वास्तव में भक्ति ही प्रधान है, ज्ञान नहीं। निगुण और सगुण भक्ति में भी विशेष अंतर नहीं है—दोनों में एक ही प्रकार विरह और मिलन की साधना चाहिये।

परन्तु ज्ञान और भक्ति (लव, विरह) के दो मार्गों के अतिरिक्त भी एक तीसरा कबीर को स्वीकार है। यह मार्ग है मंत्रयोग या सहजयोग। इसकी सीढ़ियाँ हैं जाप, अजपा, अनहद और सहज-

समाधि। जाप या स्मरण (सुमिरन) से "सुरति" का जन्म होता है। सुरति का अर्थ है स्मृति के—मैं ब्रह्म का अंश हूँ। अंतर के पट खुल जाते हैं और प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इसके लिए कठिन मानसिक संयम की आवश्यकता है। बाह्याचार काम नहीं देगा। "सुरत" की अवस्था में तन, मन और वचन स्थिर (थिर) हो जाते हैं। दूसरी सीढ़ी है अजपा, जब जाप जिह्वा से नहीं होता, मन से होता है। "अजपा" के बाद साधक भक्त को भीतर की ध्वनि (अनहदनाद) सुनाई पड़ती है। अंत में भक्त सहज-समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है। इस सहज समाधि की स्थिति का वर्णन कबीर ने इस प्रकार किया है—

जाप मरे अजपा मरे अनहद भी मरि जाय
सुरत समानी सब्द में ताहि काल नहिं खाय

नाथपंथ की योग-प्रक्रियाओं के सामने कबीर ने इसी सहजयोग की प्रतिष्ठा की है। वह कहते हैं—

सन्तो, सहज समाधि भली

साँई ते मिलन भयो जो दिन ते सुरत न अंत चली
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ,
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कुछ करूँ सो पूजा
गिरह उद्यान एकसम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कुछ करूँ सो सेवा
जब सोऊँ तब करूँ दंडवत, पूजूँ और न देवा
शब्द निरंतर मनुआ राता, मलिन बचन का त्यागी
ऊठत बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी
कहैं कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गाई
सुख-दुख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई

इस सहज-समाधि की दशा को ही कबीर ने "उन्मनी" कहा है जो भक्त योगी का लक्ष्य है।

परन्तु एक चौथे तरह की साधना भी कबीर के साहित्य में मिलती है जो किन्हीं अंशों में कबीर के निश्चित मतवाद से भिन्न पड़ती है। इससे समस्या कुछ जटिल हो जाती है। यह साधना है हठयोग की। जैसा हम अन्यत्र कह चुके हैं, कबीर ने हठयोग, राजयोग या नाथों के योग के सम्मुख अपनी सहजयोग (या मंत्रयोग) की साधना को खड़ा किया। परन्तु उनके सैंकड़ों पदों में बंकनालि, सुषुम्ना, मेरुदंड, षटदल कमल और कुण्डलिनी को जाग्रत करने की बात आती है। गगन-मण्डल (खमंडल या खंसम), अमीस्राव जैसे योग के पारिभाषिक शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। तब क्या कबीर ने योग-सम्प्रदाय की साधना को भी स्वीकार किया था? कबीर के योग के जो स्वर बजते हैं, उनका समाधान कहीं तो होना चाहिये। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक अच्छा समाधान उपस्थित किया है—"कबीरदास योग-मार्ग की ओर झुके हुए थे। उनके कुल में और कुलगुरु-परंपरा में वह मार्ग प्रतिष्ठित था, बाद में उनका समागम रामानंद से हुआ। यह बात कुछ असम्भव नहीं कि रामानन्द के प्रभाव में आने के पूर्व ऐसे बहुत से पद लिखे हों जिनमें योग-सम्प्रदाय की परंपरा प्राप्त अक्खड़ता ही परिलक्षित रही हो और भक्तिरस का लेश भी न हो। कबीर जैसा फक्कड़ जिस चीज को गलत समझेगा उससे इसलिए अनंत काल तक चिपटा नहीं रहेगा कि वह कुलपरंपरा से आई है। (कबीर १५१)

कबीर के साहित्य में योग संबंधी दो विचारधाराएँ मिलती हैं। एक में योग-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया है और योगपरक रूपकों से आध्यात्मिक साधना को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई। कबीर की उलटबाँसियों का सूत्र भी योग-मार्ग में

ही मिलता है। इस प्रकार के अनेक संकेतार्थों की परंपरा सिद्धों और नाथों से होकर कबीर तक पहुँची है। नीचे हम कुछ योग-परक संकेतों का संग्रह करते हैं।

१. ॐ—शब्द, पवन, साँस, जीव, सब्द, सुर, उजारु, सूर, ससा, संद, सेसदम, नाद, स्यंध, स्थल।
२. इडा—योगनाड़ी, चन्द्रमा, इला, गंगा, वरुणा।
३. चंद्रमा—इलानाड़ी, आज्ञाचक्र में स्थित अमृत प्रस्रावक चंद्र, चोर, चूल्हा, चक्की, चरखा।
४. पिंगला—जमुना, असी, सूर्यनाड़ी।
५. बंकनालि—सुषुम्ना, मेरुदंड।
६. मानसरोवर—सुन्न में स्थित अमृतकुण्ड।
७. मूल—परमात्मा, मूलाधारचक्र, मूलप्रकृति।
८. शब्द—गुरु की शिक्षा, सिचाण, फलीता, कूँची, बाण, भस्म, निर्भय वाणी, अनहद वाणी, (Logos.)
९. शरीर—पिंड, घट, आकार, वन, पृथ्वी, समुद्र, बंककूप, योम, षाड़, गोकुल, बृन्दावन, बेलि, वबूतनी, पुतला, कलि अस्थूल, देहुरा, महल, मसीत, ब्यावर, परिवार, चादर।
१०. सुमिरण—जाप, डोरी, ताँत, लौ, धूरि, बजन।
११. सुसयन—सरस्वती, सुषुम्ना नाड़ी, बंकनाली।
१२. सूरज—पिंगला नाडी, मूलाधार चक्र में स्थित प्रस्रावक सूर्य।
१३. भँवरगुफा—हृदयपद्म में स्थित ब्रह्म, ब्रह्मरंध्र, सुन्न, योग-शास्त्रों में अनेक शब्दों का प्रयोग।

इनके अतिरिक्त अनेक शब्दों का सांकेतिक प्रयोग योग संबन्धी ग्रंथों मे मिलता है जैसे—

चित्त—भ्रमर, अग्नि।

मन—मत्त गजेन्द्र, खग, परद, हरिण।

अन्तःकरण—हरिण।

वायु—सिंह, गज, व्याघ्र।

नाद—अहेरी, गंधक, काष्ठ।

उन्मनी—कल्पबेलि।

कुण्डलिनि—कुटिलांगी, बालरण्डा, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, अनुरुन्धती।

मूलाधार पद्म—सूर्य।

ब्रह्मरंध्र—चन्द्र।

ब्रह्मरंध्र—त्रिवेणि, कूप, गगनमण्डल, शून्यकमल संतकाव्य में इन सांकेतिक शब्दों की संख्या और भी बढ़ी-चढ़ी है। प्रत्येक एक शब्द से एक ही संकेत निश्चित हो, यह बात भी नहीं। एक ही शब्द को साधर्म्य के अनुसार भिन्न-भिन्न पदों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए प्रयोग में लाया गया है। यह कहना कठिन है कि कबीर ने इन शब्दों का प्रयोग शैली मात्र के लिए किया है। उनके अनेक पदों में कुण्डलिनी की साधना, ध्यान-धारणा-समाधि आदि का अनुभूतिपूर्ण वर्णन है। संभव है, जैसा पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है, यह प्रारम्भक साधना के पद हों क्योंकि भक्ति और सहज-साधना (सहजयोग) के पदों से इन पदों की सामग्री का मेल नहीं बैठता।

इस योगसाधना की अपनी परम्परा है जो कदाचित् आर्यों के आने से पहले ही द्रविड़ देश में चल रही थी। इस साधना के आदिगुरु शिव हैं। मध्ययुग में सिद्धों की साधना के स्थान में हठयोग के रूप में इस साधना का पुनरावर्त्तन हुआ। परन्तु तब इस साधना को प्रतीकार्थ में ग्रहण किया गया। इस प्रकार साधना की भूमि को और भी ऊँचा उठा दिया गया। यह प्रतीकार्थ क्या थे? सहस्रार में शिव का वास है। कुण्डलिनी शिवा (शक्ति) है। शिव-शिवा के मिलन से ही अद्भुत

वैयक्तिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विस्फोट होता है। चक्र शक्ति पीठ हैं। जैसे-जैसे शक्ति शिव के समीप आती जाती है वैसे-वैसे मनुष्य संसार के बंधन से छूटता हुआ उन्मन होता जाता है। अंत में जब शिव-शिवा का मिलन होता है तो वह भी अद्वैतावस्था को प्राप्त होता है। शिव है व्यापक शक्ति (असीम)। शिवा या कुण्डलिनी वह सीमित शक्ति है जो व्यापक शक्ति का अंश है और व्यक्ति में केंद्रित है। पिंड में स्थित इस सीमित शक्ति को अपनी ही तरह की व्यापक शक्ति का परिचय मिल जाता है, तो उसमे अपार बल आ जाता है। साधक अपने व्यक्तित्व को विराट व्यक्ति में डुबा देता है। वह सीमा के बंधन से निकल कर असीम की बाँहों में जा पड़ता है।

मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य यही है कि वह अपने व्यक्तित्व का एक विराट चेतना का आन्दोलन या स्पंदन अनुभव करे। कुण्डलिनी को जाग्रत करके सहस्रार में स्थित करने के प्रयत्न में यही रहस्य है। साधक पिंड में बद्ध महान् शक्तियों को उन्मुक्त करता है और वे ब्रह्मांड की शक्तियों को बलवती बनाती हैं और स्वयं उन्मन चेतना, आनन्द और बल प्राप्त करती हैं। योगी जानता है कि वीर्य, आत्मा (चेतनता) और मन की तीन महान् शक्ति-धाराएँ उसके शरीर में बह रही हैं। वह इनसे उच्छृङ्खल, कभी-कभी विरोधी, प्रवाह का नियमन या संयमन करना चाहता है। मन के संयमन के लिए है तर्क, मनस (ध्यान को विषयों की ओर जाने से रोकने की प्रक्रिया), ज्ञान, जप, उलट (मन की स्वाभाविक क्रियाओं के विपरीत जाना)। इनके द्वारा अंत में साधक उन्मन की अवस्था को प्राप्त करता है। वह अहम् के बहुत ऊपर उठ जाता है।

जिस चेतनता का विराट ब्रह्मांड में प्रवाह है और जो पिंड में प्राण रूप से व्याप्त है, उसको हम संत्, चित,

आनन्द, रस, अमृत, ज्योति कुछ भी कह सकते हैं। जहाँ योगी मनस या ध्यान के द्वारा मन को संयमित करता है, वहाँ प्राण निरोध के द्वारा शरीर को पुष्ट और वीर्य का संयमन भी करता है। अंत में वह समदृष्टि और असम-प्रगत्य समाधि की अवस्थाओं में से गुजरता हुआ कैवल्य मोक्ष को प्राप्त होता है। इसे हम "तूर्यातीत" अवस्था या "शून्यावस्था" भी कह सकते हैं। योगी अजपा जाप को सुनने लगता है। सुरत जाग्रत होकर शब्द को सुनता है। इस साधना को चरक ने "आत्मयोग" कहा है। हठयोग (जैसा हमने देखा है) इस प्रकार के योगसाधन को एकांश कहा है, अतः इसे दूसरे ही नाम से पुकारना होगा। हम इसे राजयोग कह सकते हैं।

कबीर की योगसाधना लगभग यही राजयोग है। वही जप, ध्यान, नादसंधान, ब्रह्मचर्य या ऊर्ध्वतत्व, पंचमकार का त्याग (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार), समाधि आदि। यह अवश्य है कि उसमें आस्तिक भावना, और भक्ति का भी मिश्रण हो गया है। नाथपंथ में जितनी महिमा शिव या गुरु की थी, कबीर के साहित्य में राम की, गुरु की महिमा-वंदना उससे कम नहीं है नाथपंथ भी ईश्वरवादी है। कबीर ने बार-बार गोरख की प्रशंसा की है और उन्हें अमर हो गये कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि वे गोरख और नाथपंथ के गुण को स्वीकार करते हैं। वास्तव में इन योगियों का बड़ा महत्व है। इन्होंने ही योग और भक्ति का महाराष्ट्र में सम्मिश्रण किया। ज्ञानदेव के गीतों में भक्ति और योग का विचित्र सम्मिश्रण है। कबीर के काव्य में भी वह इकट्ठा किये जा सकते हैं।

हम देखते हैं कि कबीर का युग योगियों के अभ्युदय का युग था। संभव है कि वे पहले इस पंथ की ओर आकर्षिक हुए हों, परन्तु उनकी हठवृत्तियों ने उन्हें जाने से रोक लिया है। फिर

भी यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि कबीर पर योग-पंथ की छाप नहीं है। निम्नलिखित पदों से हठयोग (गोरख) और कबीर के योग में जो समानता-असमानता है उसका फैसला हो ही जायगा—

उलटि पवन कहँ राखिये कोई मरम विचारै
साधे तीर पताल कूँ फिर गगनहिं मारै
(क० ग्रं० पृ० १३८, ५४)

प्रगट प्रकास ज्ञान गुरु गमि कै ब्रह्म अगिन परजारी
ससिहर सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी
उलटि पवन चक्र षट बेधा, मेरुदंड रसपूरा
गगन गरज मन सुन्नि समाना, बाजी अनहद तूरा
(क० ग्रं० पृ० ६०, ७)

अवधू, गगन मँडल घर कीजै
अमृत झरै सदा सुख उपजे बंकनालि रस पीजै
मूल बाँधि सर गगन समाना, सुखमन पोतन लागी
काम क्रोध जल भया पलीता, तहँ जो गण जागी
(क० ग्रं० ११०, ७०)

मनवा जाय दरीबे बैठा, मगन भया रसि लागा
कहै कबीर जिय ऐसा नाहीं, सबद अनाहद बागा
(वही १४०, ७८)

उन्मनि चष्या गगन रस पीवे   (वही ११०, ७८)
गोरखसो जिन गोय उठाली, करती बार न लागे
पानी पवन बाँधि राखे, चंद सुरज मुख दीये
(आदि ग्रंथ पृ० ४७३)

ससिहर के घर सूर समावे
जोग जुगति की कीमत पावे
(वही पृ० ४७३)

स्वास-उसास विचार कर राखे सुरति लगाय
दया ध्यान त्रिकुटी धरे परमातम दरसाय
प्रथम बैठि पताल सूँ धमकि चढ़ै आकास
दमा सुरति बहनी भई बाँधि बहंत निज श्वास

यह सब हठयाग की परिभाषा और उसकी साधना है। श्वास-साधन और चक्रभेद के द्वारा मन का स्थिर कर आत्मतत्त्व के आनन्दमय दशन करने की बात है। बात प्रतीकों में कही गई है इससे समझने में कठिनाई पड़ती है। कबीर हठयोग की कायाशुद्धि की क्रियाओं (धोती, नेती, वस्ति, त्राटक, नौत, कपालभीति—षट-कम) का उल्लेख भी नहीं करते। संभव है जिस प्रकार योगियों का वाह्याचार और वेशभूषा उन्हें अमान्य है, उसी प्रकार राजयोगी होन के कारण उन्होंन इस षटकर्मों को नहीं माना, परन्तु शेष सब साधना किसी न किसी रूप में उन्होंने स्वीकार की है। उन्होंने जो बार-बार "अमृत झरै", "गगन-रस पीवै" कहा है वह शिव-संहिता के इस सिद्धान्त के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—

ब्रह्मरंध्र हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्
तत्र कंदेहि या योनिः तस्या चंद्रोव्यवस्थितः।
त्रि कोणाकान्ती तस्याः सुधा क्षरित सन्ततम्।

(ब्रह्मरंध्र के सहस्रार पद्म के मूल यानी नाम का त्रिकोण के आकार का एक शक्ति का केन्द्र है। वहीं चंद्रमा है। इसमें से अमृत झरा करता है)। योगी खेचरीमुद्रा द्वारा जीभ को उलट कर कपालस्थित कर इस रस को पीता है जो सुषुम्ना में होकर नीचे आता है। कबीर पताल से उठकर गगन भेदनेवाले जिस तीर की बात कहते है वह कुण्डलिनी को सहस्रार में ले जाना ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने योगपंथ की साधना को भी स्वीकार किया है; परन्तु कदाचित् प्रारम्भिक अवस्था में। बाद

में तो, जैसा हम देख चुके हैं, वे सहज समाधि की ही बात कहते हैं। परन्तु जिस प्रकार विश्वासपूर्ण शब्दों में उन्होंने योग की साधना और अनुभूति का वर्णन किया है, उससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने इस साधना में भी सफलता प्राप्त कर ली थी, गगनरस वे पी चुके थे, उन्मनि अवस्था को प्राप्त हो चुके थे। संभव है कि बड़ी अवस्था तक उन्होंने इसी प्रकार के योग की साधना की हो, परन्तु बाद में रामानन्द के भक्तिमार्ग से परिचित होकर और उसमें दीक्षित होकर वे इसे छोड़ बैठे हों। हम देखते हैं कि वाह्याचारों का खंडन करते हुये भी कबीर षटचक्र-भेद का कभी खंडन नहीं करते। इससे प्रगट है कि बाद में जब वे भक्ति की साधना को अपना बैठे, जब वे "राम की बहुरिया" बन गये थे, तब भी उन्होंने इस साधना का तीव्र विरोध नहीं किया जिसे वे स्वयं बड़ी आयु तक साधते रहे थे। करते कैसे ? वे स्वयं आत्म-योगी थे। परन्तु उन्होंने योग की कठिनाइयों को देखते हुये उसमें से मुद्रा, आसन, षटकर्म आदि हटाने का उपदेश अवधू को अवश्य दिया है।

कबीर के काव्य में कहीं-कहीं एक पाँचवी साधना के भी दर्शन होते हैं। यह है सूफियों की साधना। कबीर तकी के यहाँ रहे थे, कदाचित् उन्होंने उनसे दीक्षा भी ली थी, यह किम्बदन्ती है। कबीर के काव्यों में सूफियों के समस्त पारिभाषिक शब्दों का परिचय मिलता है। स्वयं इस प्रकार की साधना में विशेष उत्साह न दिखाते हुए भी कबीर ने इस साधना को स्वीकार किया है—

जुलमत मासूत मलकूत में फिरिस्ते नूर जल्लाल जबरूह में जी
लाहूत में नूर जम्माल पहिचानियै हक मक्कान हाहूत में जी
बका बाहूत साहूत मुर्शिद दार है जो रब्ब राहूत में जी
कहत कबीर अविगति आहूत में खुद खाविंद जाहूत में जी

इस पद में सूफ़ियों के गौलोकों और उनके अधिष्ठाताओं का वर्णन है। कबीर ने बारबार "इश्क" की महिमा गाई है, कहीं-कहीं "अल्लाहहू" के सूफ़ीमंत्र का भी उच्चारण किया है। मुसलमान इतिहासकार और आलोचक कबीर को मूलतः सूफ़ी संत ही मानते हैं—और इसका साक्षी कबीर साहित्य का अच्छा खासा भाग है। यह नहीं कहा जा सकता कि कबीर कहाँ तक सूफ़ी थे। परन्तु वैष्णवमत, कबीर के संतमत और सूफ़ीमत में अनेक बातों में समानता थी। वही अद्वैत, वही भक्ति। इससे पारिभाषिक शब्दों और धार्मिक वाह्याचारों में असमानता होते हुए भी आंतरिक एकता थी। अतः इन भिन्न धर्म-साधनाओं को स्वीकार करने के कारण हम कबीर को झूठा साधक नहीं कह सकते। उन्होंने केवल ज्ञान के क्षेत्र में ही जिज्ञासा नहीं दिखाई, वे अनुभूति के क्षेत्र में भी जिज्ञासु रहे। उन्होंने योग-साधना, भक्ति और सूफ़ी-साधना—तीनों प्रकार की साधनाओं का आनन्द उठाया और उनके द्वारा परमतत्त्व को प्राप्ति की। इस तरह अनुभूति के द्वारा उन्होंने यह जाना कि वास्तव में इन साधनाओं में कोई भेद नहीं है। साधारण पाठक जो अपनी जिज्ञासा को विभिन्न मतों के शास्त्र-ज्ञान पर ही समाप्त कर देता है, कबीर की इस स्थिति को समझे बिना भ्रम में पड़ सकता है।

कबीर को किसी विशेष साधना पर यदि आग्रह था तो वह निर्गुण राम की भक्ति थी, परन्तु वे अपने समय में प्रचलित सभी प्रेम-मूलक साधनाओं का स्वयं अनुभव कर चुके थे और इन विभिन्न साधनाओं का जिज्ञासुओं को इन्हीं साधनाओं की परिभाषा में उपदेश देते रहे।

६. सृष्टितत्त्व

कबीर के सृष्टितत्त्व सम्बन्धी अनेक सिद्धांत उनके ग्रंथों में

बिखरे पड़े हैं जिन्हें एक केन्द्र पर लाना कठिन ही नहीं, असंभव है। यह कहना कठिन है कि इस संबन्ध में कितने सिद्धांत कबीर के हैं, जितने बाद में संप्रदाय वालों ने मिला दिये हैं।

(१) कबीर तीन गुण, पाँच पंचभूत और पच्चीस तत्त्वों से सृष्टि की रचना मानते हैं, परन्तु वे यह भी कह देते हैं कि सब माया के प्रसार हैं। अतः भ्रम हैं।

(२) सृष्टि का एक क्रम इस प्रकार है। अच्छै (अक्षय) पुरुष से निरंजन, निरंजन से त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) त्रिदेव से त्रिगुणात्मक संसार।

(३) स्वयं ब्रह्म ही तो सृष्टि का तत्त्व है। उस पर माया के प्रभाव के कारण हम नाम-रूप का आरोप कर लेते हैं। यह आरोप मिथ्या है और भ्रमात्मक है, परन्तु इसके पीछे माया-रहित सत्य का ही अस्तित्व है। कबीर इस अद्वैत को यों कहते हैं—

कहौ भाई अंबर कासूँ लागा
कोई जाणेगा जाननहार सभागा
अंबरि दीपै केता तारा
कौन चतुर ऐसा चितनहारा
जो तुम देखो सो यह नाहीं
है यह पद अगम अगोचर माहीं

इस सिद्धान्त के अनुसार जगत सत्य है, परन्तु संसार (जैसा हम देखते हैं) माया के बाध के कारण असत्य और मिथ्या है। जगत और जीव के सम्बन्ध से माया सत्य है, परन्तु परब्रह्म के नाते मिथ्या। सत्य केवल एक है ब्रह्म। माया-प्रकृति, जीव, संसार—सभी उसी के रूपांतर हैं। अद्वैतावस्था में पहुँच कर सृष्टि का नाश हो जाता है—

साधो एक आप जग माहीं
दूजा करम भरम है किरतिम ज्यों दर्पण में छाहीं

(कबीर)

(४) अद्वैत ब्रह्म अपने अनंद के लिए सीमाओं में आबद्ध होकर ऊँकारनाद का रूप धारण करता है जिससे क्रमशः गुणों, पंचतत्त्वों और अहंकार की उत्पत्ति होती है। संसार का जन्म इसी अहंकार से होता है। कबीर कहते हैं—

ऊँकारे जग ऊपजै वीकारे जम जाय
एक बिनावी रच्या विनान, सब अयान, जौ आपै जान
सत रज तम थैं कीनी माया, चारि खानि विस्तार उपाया
पञ्च तत्त ले कीन्ह बँधाना, पाप पुन्नि मान अभिमाना
अहंकार कीन्हें माया मोहू, संपति विपत दीन सब काहू

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रह्मतत्त्व बराबर नीचे धरातल पर उतर कर अधिक-अधिक स्थूलत्व धारण करता हुआ अंत में संसार का निर्माण करता है। वस्तुतः होता कुछ भी नहीं। यह हमारे मन के भीतर प्रकृतितत्त्व के प्रतिबिम्ब की क्रीड़ा है। कहा भी है—

जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा
तरकूँ तैसा कीन्ह उपावा

सच तो यह है कि सत्य-असत्य आपेक्षिक है। संसार के बाध से हमें सत्य भी असत्य लगता है। उसके नाश से असत्य ही सत्य हो जाता है।

(५) एक अन्य स्थान पर कबीर सृष्टि का उत्पत्तिक्रम इस प्रकार बताते हैं—पहले जीव रूप वह एक अंतर में बस कर ज्योति का प्रकाश करता था। तब इच्छारूपी नारी का अवतार हुआ। उसका नाम गायित्री पड़ा। उसके तीन पुत्र हुए। ब्रह्मा, वष्णु, महेश। ब्रह्मा ने गायित्री से पूछा—तुम्हारा पुरुष कौन

*

है ? तुम किसकी नारी हो ? नारी ने उत्तर दिया—तुम जो हो, वह मैं हूँ। तुम्हीं पुरुष हो, मैं तुम्हारी स्त्री हूँ।

इसे हम इस तरह कह सकते हैं—पहले पुरुष था। फिर मूल प्रकृति हुई। फिर जीव। जीव मूल प्रकृति में लिप्त हो गया। इस प्रकृति को उसने पत्नी के रूप में निमन्त्रण दिया। जीव और मूल प्रकृति मूल (बीज-) रूप में एक ही हैं परन्तु फिर जीव पर मूल प्रकृति की आसक्ति हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की सृष्टि की उत्पत्ति मूल प्रकृति से, माया से, ओंकार से, शब्द (Logos) से और ज्योति से मानी है। परन्तु उन्होंने दार्शनिक विचारों को पौराणिक गाथाओं से मिला कर अद्भुत बातें कही हैं। उन्होंने कर्त्ता को बाजीगर और सृष्टि-जीवादि को माया या बाजी भी कहा है। कहीं तो कबीर पृथ्वी को माया मानते हैं—पाँच तत्त्व और तीनों गुण जिनसे यह संसार बना कृत्रिम है। इसी से सब माया है। परन्तु स्रष्टा के नाते वे इसे सत्य भी कहते हैं।

यह सब है परन्तु यह प्रपंच भी ब्रह्म की तरह अनिर्वचनीय ही है। यह बात भी कबीर भली भाँति समझते हैं। वह बुद्धिगम्य नहीं है। केवल कल्पनाओं का विषय हो सकता है। इसी लिए इन सब सिद्धान्तों के ऊपर कबीर के प्रश्नों के स्वर उठते हैं—

प्रथमे गगन कि पुहुमी प्रथमे
प्रथमे पवन कि पाँणी ?
प्रथमे चन्द कि सूर प्रथमे प्रभु
प्रथमे कौन विनाणी ?
प्रथमे प्राण की प्यंड प्रथमे प्रभु
प्रथमे रकत कि रेत ?

प्रथमे पुरुष कि नारि प्रथमे प्रभु
प्रथमे बीज कि खेत
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु
प्रथमे पाप कि पुण्य ?
कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन
तहाँ कछु आदि कि सुन्य

इस प्रकार जब सृष्टितत्त्व का जिज्ञासु अनेक समाधान करता हुआ थक जाता है, तब वह देखता है कि प्रश्न उसी तरह बने हुए हैं। सृष्टि मायाजन्य हो, प्रकृति का प्रमाद हो या लीलामय की क्रीड़ा हो, हमारे लिए अगम्य है।

७. राम

कबीर के राम रामानन्द के राम से भिन्न हैं। रामानन्द के राम दशरथ के पुत्र और विष्णु के अवतार हैं। कबीर का राम अविनाशी है--

कह कबीर भ्रमनाशी
राम मिलै अविनाशी

निर्गुण-निराकार के पार जो परब्रह्म है उसी को कबीर ने राम कहा है। इस प्रकार साहेब, राम पर्यायवाची शब्द ठहरते हैं--

निरगुन निरंकार के पार परब्रह्म है तासु को नाम
रंकार जानी

परन्तु राम के गुण क्या है ? वह गुणातीत हैं, निर्मूलक है, पूजा, ध्यान और मनन से भी उसे जाना नहीं जा सकता। राम का नाम अकह कहानी है---

राम को नाम है अकह कहानी

परन्तु नाम भी एक नहीं अनेक हैं; जैसे समरथ, साहेब, आदि-

पुरुष, सतगुरु, खसम आदि। कबीर जिस राम के उपासक हैं वह सगुण और निर्गुण के परे है। यद्यपि माया की असमर्थता के कारण उन्हें उसे कभी-कभी निर्गुण कहकर ही संतोष कर लेना पड़ता है—

सर्गुण की सेवा करौ निर्गुण का करु ज्ञान
निर्गुण सर्गुण के परे तहैं हमारा ध्यान

उसके न मुँह है, न माथा ; वह न रूपवान कहा जा सकता है, न कुरूप। वह अनूपतत्त्व पुष्पवास से भी सूक्ष्म है। उनके राम जन्म-मरण से रहित हैं, दाशरथि राम वे नहीं हैं। उन्हें दो नहीं कहा जा सकता, एक भी नहीं कहा जा सकता, क्यों कि—

एक कहौं तो है नहीं दोय कहौं तो गारि
है जैसा तैसा रहै कहै कबीर विचारि

इस बचन में द्वैतवाद और अद्वैत दोनों का विरोध है और अनिर्वचनीयवाद की स्वीकृति है। राम के लिए हमारी परिभाषा के कोई भी शब्द काम में नहीं आ सकते। अवतारी राम परिभाषा में बँध सकते हैं परन्तु वे कबीर के राम नहीं हैं। वे कहते हैं—ब्रह्मा, शिव, कृष्ण और दशों अवतार मर गये, जिन भक्तों ने सगुण में निर्गुण को देखा वे भी मर गये—केवल वही निर्गुण काल के परे है। इस रमैनी से निर्गुण राम की महत्ता का पता चलता है।

सगुण सम्प्रदाय भी एक प्रकार से निर्गुण ब्रह्म को मानता रहा है। अध्यात्म रामायण और भागवत के रामकृष्ण वास्तव में परब्रह्म हैं जिनमें कबीर के निर्गुण के लगभग सारे चिह्न मिल जाते हैं। भागवत में कृष्ण के लिए कहा है—

न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापर वहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ।
तं यत्वाऽऽत्यजमव्यक्त मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखलो दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥

(जिसका भीतर-बाहर नहीं है, पूर्व-पश्चात् नहीं है, इतने पर भी स्वयं ही जगत के भीतर भी है और बाहर भी, तथा आदि में भी है, अंत में भी है, यहाँ तक कि जो स्वयम् जगत रूप में भी विराजमान है. जो अतींद्रिय और अव्यक्त है—उसी भगवान् के मनुष्याकार धारण करने से उसे अपना पुत्र मानकर यशोदा ने प्राकृत बालक की तरह रस्सी से ऊखल में बाँध रखा है) । परन्तु सगुण और निर्गुण की इस प्रकार व्याख्या करने वाले पंडित और तत्त्वज्ञानी थे । वे जानते थे कि

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत ।

(भाग० १।२।११)

(एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन प्रकार से कहा गया है) यह विभिन्नता उपासना-भेद के कारण है—

यथैन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः
एकोमानेयते तद्वत् भगवान शास्त्र वर्तयतः ।

जैसे इन्द्रियों के पृथक द्वारों से आकर बहुगुणाश्रित वस्तु एक ही प्रकार की समझ पड़ती है, उसी प्रकार भगवान् का ज्ञान है) । ज्ञानी जिसे ब्रह्मरूप मानता है, वह योगी के लिये परमात्मरूप और भक्त के लिए भावरूप है । यह उपासना-भेद अधिकार-भेद के कारण है । सभी की बौद्धिक उन्नति एक जैसी नहीं होती, सभी की प्रवृत्ति एक जैसी नहीं होती, सभी के संस्कार एक जैसे नहीं

होते। जो अधिकारी हों वह निर्गुण को जपे, जो इतना ऊँचे न जा सके वह सगुण स्वरूप का ध्यान, पूजाराधन करे। यह न सगुण को छोटा करना है, न निर्गुण को उठाना है।

कबीर इस अधिकार-भेद को नहीं मानते। ऐसा करके वे ग़लती करते हैं या नहीं यह तो हम नहीं जानते। परन्तु अधिकार-भेद को न मानना कठिन ही है। निरक्षर भट्टाचार्य चमार या लुहार क्या उसे जान सकते हैं जिसे वेद-स्मृति-पुराण भी नहीं जानते—

निर्गुण राम जपहु रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई
चारि वेद जाके सुमृत पुराना। नौ व्याकरनाँ मरम न जाना

क्या उसको केवल आत्मानुभव के द्वारा जाना जा सकता है? क्या शास्त्रज्ञान की वीथिका की जरा भी आवश्यकता नहीं? कबीर जैसे दो-चार महात्माओं को छोड़ कर इस निर्गुण ब्रह्म को कौन शास्त्र-ज्ञानहीन, अक्षरहीन समझ सकता है?

परन्तु जैसे भी हो सका, कबीर ने निर्गुण ब्रह्म की आवाज़ इस ज़ोर से उठाई कि सगुण भक्त और शास्त्र-पंडित चकित हो गये। यहाँ था एक व्यक्ति जो ब्रह्म को सामान्य मनुष्य की धारणा भूमि पर उतार लाना चाहता था केवल आत्मानुभव की दुहाई देकर। उन्होंने विरोध किया। कबीर कहते हैं—

१. दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम कर मरम है आना
२. ता साहब के लागौं साथा। दुखसुख मेटि जौ रह्यौ अनाथा
नाँ दशरथ घर औतरि आवा। नाँ लंका का राँव सतावा

(क० ग्र० पृ० ३४२)

तुलसी स्वयं राम के परब्रह्मरूप के भक्त हैं, वे कहते हैं—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा
सहज प्रकास-रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना
हरख विषाद ग्यान अग्याना। जीवधर्म अहमिति–अभिमाना
राम ब्रह्म-व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना

परन्तु साथ ही वह उन लोगों की घोर निंदा करते हैं जो दाशरथि राम को इस परब्रह्म राम से भिन्न समझते हैं—

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना
कहहिं सुनहिं अरु अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच
पाषंडी हरिपद विमुख जानहिं झूठ न साँच
अग्य अकोविद अंध अभागी। जाई विषय मुकुर मन आगी
लम्पट कपटी कुटिल विसेषी। सपनेहुँ संतसभा नहिं देखी
कहहिं ते वद असंयत बानी। जिन्ह के सूझ लाभु नहिं हानी
मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना
जिनके अगन न सगुन विवेका। जलपहिं कल्पित वचन अनेका
हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन विचारे
जिन्ह कृत महामोह मदपाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना

(बाल० ११५)

इस विषय में हम न तुलसी को दोष दे सकते हैं, न कबीर को ही कुछ कह सकते हैं। दोनों दो भिन्न दृष्टिकोणों से बात कर रहे हैं। कबीर की बात वेद-पुराण-सम्मत भले ही न हो, परन्तु उन्हें आत्मानुभव का बल है। वे अधिकार भेद को नहीं उठाते। साधना हो तो अधिकार की भूमिका है। उधर तुलसी सामञ्जस्यवादी हैं। साधारण धारणा यदि निर्गुण को नहीं पकड़ सकती तो सगुण को ही पकड़े, परन्तु दोनों में भेद नहीं माने—यह तुलसी का मध्यम मार्ग है। इसमें शास्त्रमत का समर्थन भी हो जाता है।

कबीर का राम निर्गुण होते हुए भी घट-घट में व्यापक है—

कहै कबीर विचारि करि जिन कोई खोजै दूरि
ध्यान धरौं मन सुद्ध करि राम रह्या भरपूरि
कहै कबीर विचार करि, झूठा लोही चाम
जो या देही रहित है सो है रमिता राम

(क० ग्रं० पृ० २४३)

वह अनन्त कृपा के भंडार हैं जिससे उत्साहित होकर कबीर कहते हैं—जो जाचौं तो केवल राम। आन देव स्यों नाहीं काम। परन्तु इस राम की महिमा तुलसी के राम से कम नहीं। यहाँ भी वही विराट रूप है—

कोटि चंद्र में करहि चराक। सुर तैंतीसौं जेवहिं पाक
नवग्रह कोटि ठाढ़े दरबार। धर्म कोटि जाके प्रतिहार
पवन कोटि चौबारे फिरहिं। बासक कोटि सेज बिस्तरहिं
समुन्द कोटि जाके पानीहारा। रोमावलि कोटि अठारहिं पारा
कोटि कुबेर करहि भंडार। कोटिक लख्मी करैं सिङ्गार
कोटिक पाप पुन्न बहु हिराहि। इंद्र कोटि जाके सेवा करहि

(परिशिष्ट, ४८)

यह राम जन की पीर उसी तरह जानते हैं जिस तरह तुलसी के राम (क० ग्रं० पद २८६)। वही अविगत, अकल, अनुपम तत्त्व है जिसका अनुभव "गूँगे का गुड़ खाना" है। वह आनन्द-स्वरूप है। भक्तवत्सल है। अद्वैतावस्था में कबीर उन्हीं में रम जाना चाहते हैं—

सहजै सहजै सब गये, सुतवित कामिणि काम
एक मेक ह्वै मिलि रह्या दास कबीरा राम

इस प्रकार कबीर अपने निर्गुण में गुण देखते हैं जहाँ तुलसी ने सगुण में निर्गुण के दर्शन किये हैं।

८. आध्यात्म तत्त्व

निर्गुण की प्रेम-भक्ति की साधना (जिसे हमने पहले विरह की साधना भी कहा है) कबीर का आध्यात्म तत्त्व है। कबीर के साहित्य में इस आध्यात्म साधना की विशद व्याख्या है।

संसार स्वप्न सही, परन्तु एक सीमा तक स्वप्न भी सत्य होता है। जब चरम सत्य जान लिया जाय तो हमें संसार के सत्य से भी साक्षात् हो जाता है और फिर संसार हमारी चिन्ता का विषय नहीं रह जाता। कबीर पलायन प्रेमी नहीं हैं। वे संसार के विरक्तों को बार बार उलाहना देते हैं। उनका आदर्श तो साध (साधु, संत) है जो संसार और स्वयं अपनी वृत्तियों से युद्ध करता है। वे स्वयं गृहस्थ थे। वह वैराग्य को मन की वस्तु समझते हैं। वह माया की शक्ति से झगड़ते हैं। माया कहती है—

नैक निहारि हो माय बीनती करै
दीन बचन बोलै कर जोरै फुनि फुनि पाईं परै
कनक लेहु जेता मन भावे कामिनि लेहु मनहरनी
पुत्र लेहु दिया अधिकारी, राज लेहु सब धरनी
अठसिधि लेहु तुम हरि के जाना, नवै निधि तुम्हें आगैं
सुर नर सबल भवन के भूपति तेऊ तहैं न माँगैं

इस माया से बचना वीर (सूरमा) का ही काम था, दुर्बल का नहीं। शक्ति कहाँ मिलेगी—राम के प्रेम में। पहले तो माया से बचना कठिन जान पड़ता है परन्तु जब सुरति जम जाती है और ईश्वर से मिलने की इच्छा का जन्म हो जाता है तो सभी इन्द्रियाँ सहायक हो जाती हैं।

वैष्णव सम्प्रदायों की तरह निर्गुण मत में भी हृदय का ऊँचा स्थान है। निर्गुणी का प्रेम शुष्क नहीं है। वह उसमें

डूब जाता है। वह दास की तरह विश्वास से भर कर ईश्वर (स्वामी) को देखता है। स्त्री जिस प्रकार प्रेमी और पति को चाहती है, उस प्रकार चाहता है। ब्रह्म (राम) तो सदा दया करके जीव को अपने पास लाना चाहता है परन्तु भक्त को पहले उसके योग्य बनना चाहिए। उसे बैकुण्ठ की आशा छोड़ देनी होगी—

जब लग बैकुण्ठ की आशा
तब लग न हरि चरण निवासा

(क० ग्रं० पृ० ६६)

योग्य बनो। इस प्रकार तुम ईश्वर की दया या दृष्टि के अधिकारी होगे। उसकी दया से ही चरमतत्त्व का ज्ञान और मुक्ति संभव है।

सुरति (ईश्वरानुग्रह की स्मृति) प्रधान वस्तु है जिसके द्वारा मुक्ति मिल सकती है। सुरति बिजली की तरह चमक जाती है और मनुष्य व्याकुल हो जाता है। संसार की वस्तुओं के भीतर उसे एक रहस्य के दर्शन होने लगते हैं; परन्तु वातावरण और ही है। इसलिए मनुष्य उसे शीघ्र ही भूल जाता है। इसी से कबीर कहते हैं :—

सुरति को जगाओ। जिनकी सुरति जग गई हो, उनका सत्संग करो। तुम्हारी सुरति जाग जायगी। ऐसा मनुष्य साधु है। साधू ईश्वर से भी बड़ा है क्योंकि उसके बगैर न सुरति जग सकती है, न ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं—

कबीर दर्शन साध का साईं आवैं याद
लेखे में सोई घड़ी, बाकी के दिन बाद
निराकार की आरसी साधू ही की देह
लखा चहै जो अलख को इनमें ही लख लेह

साधु भी हरि-कृपा से ही मिलते हैं।

सत्संग और साधु संग से जब सुरति दृढ़ हो जाय तो नाम-स्मरण में लग जाय। कबीर ने नाम की महिमा सहस्रों बार गाई है। सभी नाम अच्छे हैं परन्तु कबीर को राम नाम अधिक प्रिय है। "नामसुमरन" ईश्वर-प्राप्ति का सर्वोत्तम ढंग है। पहले जपा। इस समय जिह्वा से नाम ले। माला कंठी का प्रयोग नहीं करे। ये तो बाह्याचार मात्र बन सकते हैं :—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहि
मनवा तो दहुँ दिसि फिरै, सो तो सुमिरन नाहि

फिर अजपा जाप का सहारा है—मानसिक स्मरण को साधना का मार्ग बनाओ। इसके अंत में अनहदनाद सुनाई पड़ता है। ईश्वर में लय (लौ) लग जाती है। धीरे-धीरे साधक इस अवस्था से भी उठ कर वहाँ पहुँच जाता है, जहाँ—

जाप मरे अजपा मरे अनहद हू मरि जाय
सुरति समानी शब्द में ताहि कालि नहिं खाय

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के भक्तियोग में मंत्रयोग का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

साधना की अंतिम सीढ़ी पर पहुँच कर भक्त को सत्य की रहस्यात्मक अनुभूति होती है जिसे कबीर ने परचै (परिचय या सम्यक् दर्शन) कहा है। इस अवस्था में साधक, साधना और साध्य में एकात्मता स्थापित हो जाती है। दृश्य और द्रष्टा एक हो जाते हैं। आत्मा असीम उल्लास से भर जाती है। वह बेगम देश में रहने लगती है—

हद छाँड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम

इस बेगम देश का वर्णन कबीर इन शब्दों में करते हैं—

१. जहवाँ से आयो अमर वह देसवा

पानी न पौन न धरती अकसवा, चाँद न सूर न रैन दिवसवा

२. अवधू बेगम देस हमारा

राजा-रंक-फकीर-बादसा, सब से कहौं पुकारा
जो तुम चाहो परमपद को बसिहो देस हमारा
जो तुम आये झीने होके, तजो मन की मारा
ऐसी रहन रहो रे प्यारे, सहैज उतर जावो पारा
धरन-अकास-गगन कछु नाहीं, नहीं चन्द्र नहिं तारा
सत्तधर्म की है महताबें, साहिब के दरबारा
कहै कबीर सुनो हो प्यारे, सत्तधर्म है न्यारा

इस अवस्था में पहुँच कर सन्त आनन्द में भर जाता है। उसका रोम-रोम नाच उठता है। यह "निरति" की अवस्था है। इसे ही "उन्मन दशा" या "सहजसमाधि अवस्था" कहा है। यह अनुभव क्षणिक नहीं है। यह स्थायी सम्पत्ति है—

मुरली बजत अखंड सदाये, तहाँ प्रेम झनकारा है
प्रेम हद्द तजी जब भाई, सत्तलोक की हद्द पुनि आई
उठत सुगन्ध महा अधिकाई जाको वार न पारा है
कोटि मान राग को रूपा, बीन सतधुन बजै अपारा है

तब संत को अपनी पिछली अवस्था का ध्यान करते हुए भी हँसी आती है—

पानी बिच मीन पियासी
मोहिं सुनसुन आवै हाँसी

उसकी असीम सत्ता से कुछ इस प्रकार का संबंध हो जाता है—

जैसे कमल पत्र जब बरसा
ऐसे तुम साहिब हम दासा
जैसे चकोर तकत नित चंदा

ऐसे तुम साहिब हम बंदा
मोहि-तोहि आदि-अन्त बन आइ
अब कैसे लगन दुराई
कहैं कबीर हमार मन लागा
जैसे सरिता सिंधु समाई

यह आध्यात्मिक अनुभव की परमावस्था है। अद्वैत का रहस्य है। इस समय जो अनुभव होता है, वह कहने की चीज़ नहीं, कहा भी नहीं जाता। संत जीवन-मुक्त या कबीर के शब्दों में, जीवन-मृतक[1] हो जाता है। वह भगवान् की लीला में भाग लेने लगता है। लीला रहस्य है, अनुभव की चीज़ है।

यह लीला क्या है, इसे अनुभवी कैसे बताये ? वह तो कबीर की साखी पर ही कह सकता है कि यह लीला भगवान् और भक्त का वियोग और मिलन है[2]। इस लीला में भाग लेने वाले भक्त

[1] कबीर के जीवन-मृतक का आदर्श अत्यन्त उच्च है। जीवन-मृतक जगत की आशा छोड़ देता है (तजै जगत की आस १), मन को मारता है (कबीर मन मृतक भया २), श्मशान बन जाता है (कबीर मरि मड़हट भया ३), शरीर की कुछ भी परवा नहीं करता (४)। उसके आधार केवल राम होते हैं (५), ममता और अहम् छूट जाते हैं (मन मार्‌या ममिता मुई, अहं गई सठ छूटि ६)। कबीर कहते हैं कि जीवन-मृतक ही राम की कसौटी पर पूरा उतरता है।
[विशेष परिचय के लिए देखिए जीवनमृतक कौ अङ्ग, क० ग्रं० ६४]

[2] हो बलियाँ कब देखोजी तोहि
अहनिसि आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि
(वियोग, क० ग्रं० ३०५)
दुहलनीं गावहु मंगलचार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार
(मिलन, वही १)

को बेहद के देश का परिचय प्राप्त होता है।[३] वह संसार को नये ढंग से देखने लगता है। उसकी इंद्रियाँ अत्यन्त तीव्र हो जाती हैं। उनके गुणों का विपर्यय हो जाता है।[४] जैसे वह अतिरिक्त इंद्रिय से देख-सुन रहा हो। उसके अनुभव इतने मधुर-आकर्षक परन्तु जटिल होते हैं कि वह उनमें मुग्ध हो जाता है परन्तु उनका वर्णन भी नहीं कर पाता[५]। संक्षेप में, वह उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो जाता है जब—

आठहूँ पहर मतवाल लागी रहै
आठहूँ पहर की छाक पीवै
आठहूँ पहर मस्तान माता रहै
ब्रह्म की छौल में साध जीवै
साँच ही कहत औ' साँच ही गहतु है,
काँच को त्याग करि साँच लागा
कहैं कबीर यों साध निर्भय हुआ
जनम और मरन का मर्म भागा

(शब्दावली)

९. मनुष्यता की सामान्य भूमि

उन्मनी मनुष्य भी लोकोत्तर नहीं है—यह कबीर का क्रान्ति-कारी संदेश है। उसके लिये भी समाज और लोक-व्यवहार के बन्धन हैं। कबीर स्वयं गृहस्थ थे। उन्होंने सदैव अपनी कुल-सेवा

---

३ देखि पीछे उदधृत पद।

४ Underhill अपनी एक पुस्तक में एक रहस्यवादी की उक्ति देते हैं : I heard flowers that sounded only saw into that stone.

५ इसीलिए कबीर उसे "गूँगे का गुड़" कहते हैं।

(वयन) जारी रखा। वैष्णव होने पर उन्होंने बुनना-बनना छोड़ दिया था और वे विरक्त हो गये थे जैसा एक शब्द से प्रगट है, परन्तु उनकी यह त्याग-वृत्ति चिरस्थायी नहीं थी। उन्होंने सामान्य साधना या सहज-साधना को महत्त्व दिया जिससे मनुष्य अपना लोक-व्यवहार बनाये रखता हुआ भी लोकोत्तर गुणों को प्राप्त कर सकता है।

इसलिए कबीर को सामान्य साधना के लिए मनुष्यता की सामान्य भूमि की भी घोषणा करनी पड़ी। जैसा चंडीदास ने कहा है—

सुनह मानुष भाई
सबार ऊपर मानूष सत्य, ताहार ऊपरे नाईं

वैसा कबीर ने प्रत्यक्ष कर दिखाया। उन्होंने कहा—शूद्र कौन है, अशूद्र (ब्राह्मण) कौन है? मलेच्छ कोई भी नहीं। हिन्दू-मुसलमान भिन्न नहीं! धनी को निर्धनी क्यों तुच्छ समझे? बाह्याचारों और परम्परागत रूढ़ियों के पीछे जो मनुष्यता की सामान्य भूमि है उसे ही सामने रख कर साधक को बढ़ना होगा। जहाँ वे इस सामान्य भूमि की बात ले बैठते हैं, वहाँ उनका तेज देखते ही बनता है—

अरे इन दूहन राह न पाई
हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई
वेस्या के पायन तर सोवै यह देखो हिन्दुवाई
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी-मुर्गा खाई
खाला केरी बेटी ब्याहै घरहिं में रहा समाई
बाहर से इक मुर्दा लाए धोय-धाय चढ़वाई
सब सखियाँ मिलि जेवन बैठीं घर-भर करैं बड़ाई
हिन्दुन की हिन्दुवाई देखी तुरकन की तुरकाई
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह है जाई

वह कहते हैं—

माटी एक भेष धरि नानाँ सब में ब्रह्म समाना
कहै कबीर भिस्त छिटकाई दोजग ही मनभाना

पंडित से उनकी शिकायत है—

पाँडे बूझि पियहु तुम पानी
जिहि मिटिया के घर महँ बैठे तामँह सिस्टि समानी
छपन कोटि जादव जहँ भीजे, मुनिजन सहस अठासी
पैग पैग पैगंबर गाड़े, सो सब सरि भौ माँटी
तेहि मिटिया के भाँड़ै पाँडे, बूझि पियहु तुम पानी
मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर-जल भरिया
नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु मानस सब सरिया
हाड़ भरी भरि गूद गरी गरि, दूध कहाँ ते आया
सोलै पाँडे जेवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया

कबीर पंडित-मुल्ला-सूफी-योगी सभी के बाह्याचारों, आडम्बरों, रीति-रिवाजों का खंडन कर सारी मानवता को प्रेम और सहानुभूति की सामान्य भूमि पर उतारते हैं। इसी उत्साह में वे संयम को भूल कर तीक्ष्ण व्यंग भी कर बैठते हैं, जैसे—

जो तू बाँभन बाँभिनि जाया
और द्वार हो काहे न आया

परन्तु लक्ष्य व्यंग नहीं है, मनुष्य-मनुष्य की नितान्त समानता की ओर इशारा है।

इस मनुष्यता की सामान्य भूमि पर ही कबीर ने संतमत को खड़ा किया है जो वास्तव में सामान्य धर्म है। जब मनुष्य-मनुष्य में अन्तर नहीं है तो जिनको वे पूजेंगे उन देवताओं में अंतर क्यों होगा? भेद होगा भी तो नाममात्र का। वही अल्लाह है,

वही राम है, वही ईसा है। कबीर सामान्य उपास्य की ओर बढ़ते हुए कहते हैं—

(भाई रे) दुई जगदीश कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया
अल्लह-राम-करीमा-केसो (ही) हज़रत नाम धराया
गहना एक कनक तें गढ़ना, इनि महँ भाव न दूजा
कहन-सुनन को दुर करि पापिन, इक नमाज इक पूजा
वही महादेव, वही महंमद, ब्रह्मा आदम कहिये
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये
वेद-कितेब पढ़ें वे कुतबा वे मोलना वे पाँडे
बेगरि-बेगरि नाम धराये एक मटिया के भाँडे

मध्ययुग की अव्यवस्था-प्रधान शान्ति में यह व्यवस्था की, क्रान्तिमयी योजना था कबीर का। यह सच है कि कबीर का यह सामान्य धर्मभाव आज भी सत्य नहीं हो पाया है, आज भी मनुष्य की सामान्य भूमि तैयार नहीं हुई है, परन्तु इससे कबीर की महत्ता कम नहीं होती। वे पहले भारतीय थे जिन्होंने अपने चारों ओर आँखें खोल कर देखा और फिर हृदय में डूब कर एकता का संदेश दिया।

कबीर और आचार्यों के दार्शनिक दृष्टिकोण में महान् अंतर है। जहाँ आचार्य दर्शन को शास्त्र और तर्क के भीतर से देखते हैं, वहाँ कबीर उसे जीवन-व्यवहार के भीतर से देखते हैं। यही कारण है कि जहाँ शंकराचार्य अद्वैत मान कर चुप हो गये, वहाँ कबीर मौन नहीं रह सके। जब अद्वैत है, ब्रह्म और जीव एक है, जब जीव ब्रह्म होने के कारण समान है, तब यह भिन्नता क्यों? यह मारकाट क्यों? यह खून-खराबी क्यों? इसलिए कि सभी ने मूल छोड़ कर शाखाओं को पकड़ रखा है और उन्हें ही तना समझ रखा है। जब अद्वैत है तो शूद्र कैसा, ब्राह्मण कैसा, हिन्दू कैसा, मुसलमान कैसा, अल्लाह राम में भेद

क्यों ? इस प्रकार कबीर ने दर्शन को जीवन-व्यवहार के निकट पहुँचा दिया। वह पंडितों के तर्क-वितर्क की चोज़ नहीं रह गया। उसने जीवन गढ़ने का प्रयत्न किया। वह जोवन अब तक पूरी तरह गढ़ा नहीं जा सका है, परन्तु उसे अनगढ़े जीवन के प्रति हम उसी उल्लास से देख सकते हैं जिस प्रकार कबीर अनगढ़िया देवता को देखते हैं—

अनगढ़िया देवा, कौन करै तेरी सेवा
गढ़े देव को सब कोइ पूजै, नित ही लावै सेवा

इसी अनगढ़िया देवता, अनगढ़िया समाज, अनगढ़िया सामान्य मानवभूमि और धर्मभूमि की झाँकी हमें कबीर के काव्य में मिलती है। काल के प्रवाह के साथ वह धीरे-धीरे स्थूल रूप पा रहा है।

कबीर के काव्य में रहस्यवाद

"रहस्यवाद" एक अत्यंत आधुनिक शब्द है। यद्यपि जिस अर्थ के लिए इस शब्द का प्रयोग आज चल रहा है, उस अर्थ के लिए पहले दूसरे शब्द चलते थे। कबीर के रहस्यवाद पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यदि कबीर उस सब को पढ़ लें, तो आश्चर्य-चकित रह जायें।

उपनिषदों में जिस प्रकार का ज्ञान है, जिसे "ब्रह्म का ज्ञान" या "अपराविद्या", "गोप्य", "गुह्य", "रहस्य" कहा गया है, उसके जानने के लिए साधना की भूमिका की आवश्यकता है। इस प्रकार निर्गुण-संबंधी ज्ञान को रहस्य बनाने की प्रथा चली। सिद्धों की संध्या-भाषा में इसी प्रकार का प्रयत्न है। साधना के आलंबन, साधना की क्रियाओं और आत्मानुभव को छिपा रखने की चेष्टा—जिससे अनधिकारी के हाथ नहीं पड़ सके। परन्तु एक दूसरे कारण से भी निर्गुण सम्बन्धी भावना में रहस्यमयता आ गई है—वह है इस साधना और अनुभव के प्रकाशित करने के लिए भाषा का अभाव। सच तो यह है कि कबीर आदि उन साधकों के लिए जो प्रत्यक्ष था, वह हमारे लिए रहस्य है। इस अनबूझपन पर कोई भी "वाद" खड़ा करना उचित नहीं। फिर भी रहस्यवाद नाम से बड़े-बड़े महल खड़े हो रहे हैं।

कबीर का राम के संबंध में कुछ कहना ही नहीं है। कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वह गुणों से परे होकर भी गुणों को लपेटे हुए है, फिर कोई क्या कहे? जीव और ब्रह्म एक ही है

—जैसे बूँद-समुद्र। इन दोनों की अद्वैतावस्था ही अंतिम लक्ष्य है। भक्ति द्वारा इस अद्वैतावस्था की प्राप्ति होती है, परन्तु तब उस अद्वैतावस्था का न तो आनन्द का ही वर्णन हो सकता है, न उस परिस्थिति का वर्णन किया जा सकता है। इसे ही कबीर कहते हैं—

हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ
समंद समाना बूँद मैं, सो कत हेरया जाइ
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ
बूँद समानी समंद मैं सो कत हेरी जाइ

इस अद्वैतावस्था की प्राप्ति के लिए जहाँ जीव प्रयत्नशील है, वहाँ ब्रह्म (राम) भी। अतः कहा नहीं जा सकता कौन किसमें समाया, जीव ब्रह्म में, या ब्रह्म जीव में। इसे कौतुक समझिए। इसे ही कबीर ने अनेक रूपकों में कह डाला है। —ससीम असीम को निगल लेता है या एक अतीव अनोखी आश्चर्यजनक प्राकृतिक स्वरूपों के विपरीत घटना घटित होती है। यह आध्यात्मिक अनुभव का काव्यात्मक चित्रण ही है—

१. एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥ टेक ॥
पहलैं पूत पीछैं भई माई, चेला कै गुर लागै पाँइ
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई
बैलहि डारि गूँनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई
तलि करि साषा उपरि कर मूल, बहुत भाँति जड़ लागै फूल
कहै कबीर या पद कौ बूझैं, ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन बूझै

२. अवधू ग्यान लहरि धुनि माँडी रे
सबद अनाहत अतीत राता, इहि विधि त्रिष्णाँ साँडी ॥ टेक ॥
बन कै ससै समंद घर कीया, मछा बसै पहाड़ी
मद पीवै ब्राह्मण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी

पाड़ बुरौ कोली में बैठी, मैं खूँटा मैं गाड़ी
ताँणौं बाँणे पड़ी अनवासी, सूत कहै बुणि गाढ़ी
कहै कबीर सुनहु रे संतौं, अगम ग्यान पद माहीं
गुर प्रसाद सूई के नाँकै, हस्ती आवैं जाहीं*

परन्तु एक दूसरे प्रकार के रहस्यवादी पद वे हैं जिनमें आध्यात्मिक अद्वैतानुभव के आनन्द का वर्णन किया गया है। उनमें या तो योगपंथ की तत्सम्बन्धी धारणाओं का सहारा लिया गया है या फिर प्रकृति से रूपक गढ़ा गया है, जैसे—बसन्त, चाँदनी या सूर्य का तेज या बिजली का चमकना। सच तो यह है कि यह अनुभव गूँगे का गुड़ है। उसे अननुभवी समझ ही नहीं सकता। अनुभवी भी समझा नहीं सकता। इसलिए वह अनुभव के दूसरे

---

* सिद्ध साहित्य में भी इस प्रकार की उलटबाँसियों का प्रयोग है। श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३४ पर ढेण्ढनपाद की उलटबाँसी इस प्रकार दी है—

टालत मोर घर नाहिं पड़वेसी (टलत मोर घर नाहिं पड़ोसी)
हाड़ीति भात नाहिं नित आवेशी (हाड़ी में भात नहिं नित आवेशी)
बेंग संसार बड़हिल जाअ (बिना अंग संसार बढ़ा जाय)
दुहिल दुधू कि बेण्टे सामाय (दुहा दूध कि बाँट समाय)
बलद बिआएल गविया बाँझ (बैल बियाया गैया बाँझ)
पिटा दुहिए ए तिना साँझे (पीठ में दुहा इतनी साँझ)
जो जो बुधी सो धनि बुधी (जो सो बुद्धि धन्या बुद्धि)
जो सो चौर सोइ साधो (जो सो चोर सोइ साधु)
निते निते षियाला सिंह सम जूझय (नित नित स्यार सिंह सों जूझै)
ढेण्ढणपाएर गीत बिरले बूझय (ढेण्ढणपाद का जी बिरला बूझै)

ऐसे अनेक पद उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध हो सकता है कि इस प्रकार की उलटबाँसियों की एक लंबी परंपरा थी और कबीर उससे अवश्य परिचित थे।

क्षेत्रों से सहारा लेता है। वास्तव में यह आध्यात्मिक अनुभव को प्रगट करने की शैली मात्र है। साधारण मिलन और वियोग के पदों में भी रूपक ही लिखा जा सकता है। जहाँ आत्मा "राम की बहुरिया" और राम पति हैं। इस मिलनोल्लास और वियोग-गांभीर्य के कारण काव्य भावना के सबसे ऊँचे स्तरों पर उड़ने लगता है। इसे ही रहस्यवाद कह दिया जाता है। यही नहीं, योग की सुषुम्ना आदि और तत्सम्बन्धी साधना और तज्जन्य आनन्द को भी रहस्यवाद कह दिया जाता है, यद्यपि योग का रहस्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

एक तीसरे प्रकार की प्रकाशन शैली है निश्चित प्रतीकों का प्रयोग। इन प्रतीकों को हम छोटा-मोटा रूपक कह सकते हैं। कबीर के साहित्य से इन प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। कभी-कभी प्रतीकों में पूरी कथा कह दी गई है, जैसे—

१. चलि चलि रे भँवरा कवल पास, भँवरी बोलै अति उदास ॥टेक॥
तैं अनेक पुहुप कौ लियौ भोग, सुख न भयौ तब बढ्यौ है रोग
हौं ज कहत तोसों बारबार, मैं सब बन सोध्यो डार डार
दिना चारि के सुरंग फूल, तिनहिं देखि कहा रह्यौ है भूल
या बनासपती मैं लागैगी आगि, तब तूँ जैहौ कहाँ भागि
पहुप पुरान भये सूक, तब भँवरहि लागी अधिक भूख
उड्यौ न जाइ बल गयौ है छूटि, तब भँवरी रुनी सीस कूटि
दस दिसि जोवै मधुप राइ, तब भँवरी ले चली सिर चढ़ाइ
कहै कबीर मन को सुभाव, राम भगति बिन जन कौ डाव

२ सर्पनी ते ऊपर नहीं बलिया, जिन ब्रह्मा विष्णु महादेव छलिया
मारु मारु सर्पनी निर्मल जल पैठी, जिन त्रिभुवन डसिले गुरु प्रसाद डीठी
सर्पनी सर्पनी क्या कहहु भाई, जिन साचु पछान्या तिन सर्पनी खाई

(यहाँ सर्पनी का तात्पर्य है माया)

३. इति तत राम जपहु रे प्रानी, बूझौ अकथ कहाँणी
हरि कर भाव होइ जा ऊपरि, जाग्रत रैनि बिहानी ॥ टेक ॥
डाइँन डारै सुनहाँ डोरै, स्यंघ रहै बन घेरै
पंच कुटुम्ब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद संवेरै
रोहै मृग ससा बन घेरै, पारधी बाँण न मेलै
सामर जलै सकल बन दाझै, मंछ अहेरा खेलै
सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पढ़ै विचारै
कहै कबीर सोइ गुरु मेरा, आप तिरै मोहिं तारै

४. अब मोहि ले चल नणद के बीर, अपनैं देसा
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आदि बदेसा ॥ टेक ॥
गंग तीर मोरी खेती-बारी, जमुना तीर खरिहाना
सातों बिरही मेरे नीपजै, पंचू मोर किसाना
कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहताँ कहीं न जाई
सहज भाइ जिहिं ऊपजै, ते रमि रहे समाई

कुछ पद ऐसे भी हैं जो वास्तव में निरर्थक हैं—केवल पंडितों को भ्रम में डालने के लिए जिनकी सृष्टि हुई है। इनके भी अर्थ खींच-तान से निकाले जाते हैं और इन्हें कबीर के रहस्यवाद के उदाहरण में दिया जाता है। वास्तव में इन पदों में पंडितों के ज्ञान पर व्यंग के सिवा और कोई भाव है ही नहीं—

फील रबाबी बलद पखावज कौआ ताल बजावै
पहरि चौलना गदहा नाचै भैंसा भगति कहावै
राजा राम ककरिया बापे काये, किनै बूझनहारै खाये
बैठि सिंह घर पान लगावहि घीस गल्मोरे लावै
घर घर मुसरी मंगल गावहि कछुवा संख बजावै
बंस को पूत बिआहन चलिया सुहने मंडप छाये
रूपकन्निया सुन्दर बेधी ससै सिंह गुन गाये

कहत कबीर सुनहु रे पंडित कीरी परबत खाया
कछुवा कहै अंगार मिलो रे लूकी सबद सुनाया

बदिला पूत पिछैरी माई । गुरु लागे चेले की पाई
एक अचंभौ सुनहु तुम भाई । देखत सिंह चरावत गाई
जल की मछली तरुवर धाई । देखत कुतरा लै गई बिलाई
तले रे बैसा ऊपर सूला । तिसकै पेड़ लगे फल फूला
घोरे चरि भैंस चरावन जाई । बाहर बैल गोनि घर आई
कहत कबीर जो इस पद बूझै । राम रमत तिस सब किछु सूझै

अधिक से अधिक खींचातानी से इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि कबीर एक उलटे व्यापार को देखकर आश्चर्य से भर गये हैं और प्राकृतिक व्यापारों को उलट कर, उनमें आश्चर्यजनक संघटन उत्पन्न कर, अपने अनुभव को व्यक्त करना चाहते हैं। वह आश्चर्य व्यापार है सीमित का असीम को आत्मसात कर लेना या आत्मा का ब्रह्म को समा लेना। इनमें से प्रत्येक व्यापार की अलग-अलग व्याख्या करना अनुचित है, इसमे मूलार्थ खो जाने का डर है। कबीर उलटबाँसियों में एक पूर्व परंपरा की रक्षा अवश्य कर रहे थे, जैसा नाथपंथियों और सिद्धों की इसी प्रकार की वाणी से प्रगट है, परन्तु इसे केवल कूट नहीं समझना होगा। हम उनकी साधना से दूर रह कर कोरे शास्त्र-ज्ञान के बल पर उनकी आलोचना करने बैठे हैं। इससे कबीर के आत्मानुभव की बात दब जाती है, उभर आती है परंपरा। वास्तव में कबीर के काव्यों को हमें उनकी साधना की पृष्ठभूमि में रख कर ही देखना होगा। तभी हम उसके साथ ठीक न्याय कर सकेंगे और उनके काव्य को उधेड़-बुन कर अपनी बुद्धि का कौशल दिखाने से बाज आयेंगे। उलटबाँसियाँ कबीर की व्यक्तिगत साधना के अन्यतम फल को प्रगट करती हैं। इनमें साधना की कोई ऐसी पद्धति नहीं हैं, कोई सामाजिक अनाचार की बात नहीं है, जैसी सिद्धों की

संध्या-भाषा में है. जिसे छिपाना ध्येय है या जिसे साधक अश्रद्धालु या अयोग्य पात्र के हाथ में पड़ने देना नहीं चाहते। इनमें केवल साधक का रहस्यानुभव है जो हमारे लिये चाहे कूट हो परन्तु उनके लिये प्रकाश की तरह उज्ज्वल भास्कर था। परन्तु हमें इस प्रकार के पद भी मिलेंगे जहाँ कबीर साधना को छिपाना चाहते हैं या असंत. पंडित, कोरे ज्ञानी कुतर्की को भ्रम में डाल कर अपना पिंड छुड़ाना चाहते हैं। कबीर स्वयं सतत जिज्ञासु रहे, इसीसे सच्चे जिज्ञासुओं को वे आत्मानुभव बताते थे। कबीर का उपदेश सम्बन्धी दृष्टिकोण इस पद से प्रकट है—

बोलना का कहिये रे भाई, बोलत बोलत तत्त नसाई है ॥ टेक ॥
बोलत बोलत बढ़ै विकारा, बिन बोल्याँ क्यूँ होइ बिचारा
संत मिलैं कछु कहिये कहिये, मिलै असंत मुष्टि करि रहिये
ग्यानी सूँ बोल्याँ हितकारी, मूरिख सूँ बोल्याँ झषमारी
कहै कबीर आधा घट डोलै, भरया होइ तौ मुखाँ न बोलै

असंत से कबीर कैसे कहेंगे, इसका उदाहरण है—

बागड देस लूवन का घर है
तहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है ॥ टेक ॥
सब जग देखौं कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत कबीरा
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी, न तहाँ सतगुरु साधू बाणी
न तहाँ कोकिल न तहाँ सुवा, ऊँचै चढ़ि-चढ़ि हंसा मूवा
देस मालवा गहर गँभीर, डग-डग रोटी पग-पग नीर
कहै कबीर घर ही मनमानाँ, गूँगे का गुड़ गूँगै जाना

वास्तव में ये पिछली शैलियाँ कबीर के निर्भीक, आत्माभिमानी व्यंगप्रिय व्यक्तित्व को ही उभारने में सहायक हैं। उनके पीछे आध्यात्मिक साधना का संदेश ढूँढ़ना इस बुद्धिवादी युग की विशेषता है जिससे अध्यात्म से ग़रज नहीं, परन्तु जिसे पग-पग पर अध्यात्म चाहिए।

यदि जीव और ब्रह्म के अलौकिक सम्बन्ध को अनुभव करने का नाम ही रहस्यवाद है तो उपनिषद् भारतीय रहस्यवाद के आदि स्रोत हैं। उनके द्रष्टाओं ने ऐसी चरम सत्ता का अनुभव किया है जो प्रकृति और मन में अनन्त काल से व्याप्त हो रही है, जिससे सृजन होता है, जिसमें संसार कार्य करता हुआ जीता है और अन्त में जिसमें सृष्टि का लोप हो जाता है। वे इस सत्ता को बौद्धिक तर्क द्वारा प्रमाणित करके ही नहीं रह जाते, उसकी प्राप्ति का मार्ग भी बताते हैं। वे आत्मज्ञान की ओर संकेत करते हैं परन्तु वे यह भी जानते हैं कि अनुभूतिजन्य पारलौकिक ज्ञान जो स्वयं एक अलौकिक और रहस्यपूर्ण अनुभव है, शब्दों द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता। वह ज्ञान तो भीतर की वस्तु है, आत्मा में स्थित हो जाता है। उसकी ओर तो आत्मज्ञानी योगी इंगित ही कर सकता है जिससे नये साधक को अंधकार में स्थान-स्थान पर प्रकाशस्तंभ मिल सकें। इससे अधिक वह क्या करे?

उपनिषदों के समय में अर्थशून्य कर्मकांड की प्रधानता थी। उपनिषदों के ऋषियों को नई विद्या की आवश्यकता पड़ी—ऐसी विद्या जो मनुष्यों को अंतर्मुख और आत्ममुख कर सके। जीवन की महत्ता भुला दी गई थी। कर्मकांड क्यों किये जायें? कर्मों का अन्त कहाँ है? परन्तु कर्मकांडी इन प्रश्नों पर विचार नहीं करते थे। उपनिषदों के द्रष्टाओं ने चितसत्ता के विषय में अपनी अनुभूति के सहारे एक नये दृष्टिकोण का विकास किया। कर्मकांड की दलदल में फँसे पक्षी को अनन्त आकाश की उड़ान के लिए उन्होंने पंख दिये। उन्होंने कहा—इन्द्रियाँ जड़ हैं और तमस प्रधान हैं, अतएव उनसे जड़ वस्तुओं के वाह्य गुणों को ही जाना जा सकता है। गुणों के परे जो है उसे हमारी जड़ और तामस इन्द्रियाँ ग्रहण ही नहीं कर सकतीं

(केनो० १-३ ; कठो० ६-९ ; मु० ३—१।४)। अनुमान तक प्रत्यक्ष से चल कर व्याप्ति के सहारे ही हम पहुँचते हैं। परन्तु चितसत्ता का ज्ञान अनुमान द्वारा प्राप्त हो ही नहीं सकता। अपरोक्ष का परोक्ष के साथ कोई सीधा संबन्ध ही नहीं है। चित-सत्ता अप्रमेय है (वृ० ४), अनुमान से उसे जाना ही नहीं जा सकता। अब एक ही साधन रह गया—शब्द। शब्द का अर्थ है आप्तवचन अर्थात उन ऋषियों और द्रष्टाओं की उक्तियाँ जिन्होंने सत्य को आत्मसात किया है। परन्तु आप्त-वचन उस ज्ञान की आवश्यकता की ओर इंगित ही कर सकते हैं, साधना से ही यह ज्ञान प्राप्त होगा।

यह साधना क्या है? हमारी इंद्रियाँ बहिर्मुख हैं। इसीलिए मनुष्य बाहर संसार भर को तो देखता है परन्तु अपने को देख ही नहीं पाता। अमरत्व का इच्छुक अपनी दृष्टि अंतर्मुखी बना लेता है। बाहर से हट कर वह अपने भीतर आ जाता है। कछुवे की तरह वह अपने अंग समेट कर ऐसा हो जाता है जैसे बाहर उसके लिए कुछ है ही नहीं। श्वेताश्वेतर उपनिषद कहता है— "नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः २, ४, १; इसीलिए साधक को साधना द्वारा बाहर की संवेदनाओं को अग्राह्य बना लेना चाहिए। इससे पाप क्षमा होंगे ; नम्रता, शांति, सत्य, अंतर्दृष्टि और सत्य की खोज की शक्ति का प्रादुर्भाव होगा।

तात्पर्य यह है कि उपनिषदों के ऋषियों द्वारा बताया हुआ ज्ञान बाहर से नहीं आता—वह आत्मा के भीतर से ही विकसित होता है। आप्त-वचन और सदाचार उसके विकास में सहायक हैं।

तपस् द्वारा जब साधक आत्मशुद्धि कर ले और उसकी आत्मा सत्ज्ञान के लिए उपयुक्त पात्र बन जाय तो, उसे सद्गुरु की खोज करना चाहिए। उपनिषद ग्रंथों में गुरु की बड़ी महत्ता है। उपनिषद शब्द का अर्थ ही (उप+नि+सेद) 'पास बैठना'

या गुरु के चरणों में बैठ कर प्राप्त किया हुआ ज्ञान है। उपनिषद्
बारबार इस ज्ञान को 'रहस्यविद्या' के नाम से पुकारते हैं। यह
पवित्र विद्या है। यह गुरु का आशीर्वाद है। गुरु की आवश्यकता
को ध्यान में रखते हुए ही उपनिषद् कहते हैं—उत्तिष्ठत जाग्रत
प्राप्य वरान्निबोधत क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथ
स्तत्कवयो वदन्ति। कठ० १, ३, १४। छांदोग्य के छठे अध्याय के
१४वें खंड में ऐसे पुरुष का दृष्टान्त है जिसकी आँखें बँधी हुई
हैं और जो गान्धार देश से लाकर जनशून्य स्थान में छोड़ दिया
गया है। वह चिल्लाता है—"मुझे आँखें बाँध कर लाया गया
है और आँखें बाँध कर ही छोड़ दिया गया है।" तब उस पुरुष
के बंधन खोल कर कोई कहे कि "गान्धार देश इस दिशा में है
सीधा चला जा" तो वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम पूछता हुआ
गांधार में ही पहुँच जायगा। यह आँखों का बंधन गुरु ही
खोलेगा, वही स्थान की ओर निर्दिष्ट करेगा।

गुरु-शिक्षा (श्रवण) के पश्चात् मनन आता है। इसकी चार
सीढ़ियाँ हैं—(१) मनन तपस् के रूप में, (२) मनन ध्यान और
जप के रूप में, (३) ॐ पर ध्यान, (४) प्रतिकोपासना अर्थात्
प्रतीकों पर मनन। शिष्य को क्रमशः मनन की इन साधना-
वस्थाओं को पार करना होता है।

इन साधनाओं का अंत योग में होता है। योग युञ्ज धातु
से बना है जिसका अर्थ है जोड़ना। जीवात्मा परमात्मा से संबंध
जोड़ता है। रहस्यवादियों का विश्वास है कि इस तरह का असीम
से ससीम का संबंध संभव है। कई उपनिषदों में योग की परि-
स्थितियों का वर्णन है; परन्तु श्वेताश्वेतर में इसका विशेष
विवरण दिखाई पड़ता है। इस उपनिषद के दूसरे अध्याय में
योग की क्रियाओं और उनके प्रभाव का विशद वर्णन है।

योग का अंत ईश्वर-दर्शन अथवा सत्यदर्शन में है। योगी ईश्वर या सत्य का साक्षात्कार कैसे करता है? इन्द्रियों से, कि मन से, अथवा अतींद्रिय, अतिबौद्धिक अनुभूतिजन्य ज्ञान से। कठोपनिषद् के अनुसार चरमसत्ता इन्द्रियग्राह्य है ही नहीं। "न सदृशं तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभि क्लृप्तो च एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। २, ६, ९। उस चरमसत्ता को कोई देख नहीं सका है, न यह ही संभव है कि उसे हृदय, कल्पना अथवा मन से जाना जा सके। जो इस परम सत्य को जानते हैं वही अमृतत्त्व के अधिकारी होते हैं।

उपनिषद् आचार के दृष्टिकोण से ईश्वरानुभूति पर विचार करते हैं—"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रासादान्महिमान आत्मनः। क० १, २, २०। जब आत्मा पापमुक्त होकर वीतराग हो जाता है, तब उसे परमात्मा की महत्ता का अनुभव होता है।" यह ईश्वरदर्शन आत्मदर्शन ही है। आत्मा के अंदर ही परमात्मा का साक्षात् होता है।

इसीलिए रहस्वादी योगी आत्मशुद्धि से प्रारम्भ करता है। अपने भीतर, अपनी आत्मा में ही वह उस अनन्त सत्य, अनंत ज्ञान और अनन्त सौन्दर्य की खोज करता है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर योगी की आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन है—उसके अनुभव और उसके स्वप्न व्यक्त हैं। वह ध्यान की अवस्था में रूप, रंग, नाद और अलौकिक प्रकाश का अनुभव करता है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां

खद्योत विद्युत्स्फटिक शशिनाम्।

एतानि रूपाणि पुरःसराणि

ब्रह्मण्यभिव्यक्ति करणाणि योगी॥ श्वे० २

"कुहरे और धुएं जैसे, धूप, अग्नि और पवन जैसे; जुगनू

स्फटिक और चंद्रमा जैसे रूपों में योगी रमता है ।" बृहदारण्यक में भी एक स्थान पर लिखा है कि आत्मखोज में बढ़ते हुए योगी को केसरिया रंग के कपड़े, रक्तवर्ण तितलियाँ, अग्नि-शिखायें, विकच कमल और आकाश में कौंधती हुई बिजलियाँ दिखलाई पड़ती हैं। बृहद् और मैत्री उपनिषदों में अनहदनाद का भी उल्लेख है । छांदोग्य उपनिषद में लिखा है—तदस्मिन् शरीरे संस्पर्शे नाष्णिमानं निजानाति । तस्यैषां श्रुतिः । यत्र कर्णावपि गृह्य निनदमिवं, वद पुरिव, अग्नेरिवज्वलत उपशृणोति। ३, १३, ८, कान बंद कर हम अंदर के परमतत्त्व के अस्तित्व का अनुभव कर सकते हैं । तब विचित्र प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं— "जैसे मेघगर्जन ध्वनि और विस्फोटध्वनि ।" जहाँ रङ्गरूप के अनुभव की बात आती है, वहाँ उपनिषद के प्रति अधिक मुखर हो जाते हैं—"हिरण्ये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तयदात्म विदो विदुः । मु० २, २, ९ हिरण्मय कोश पर विरज और निष्कल ब्रह्म विराजमान है। वह समस्त ज्योतियों की ज्योति है जिसको आत्मविद ही देख सकते हैं ।"

परन्तु साधना से ऊपर है ब्रह्मानुग्रह (पुष्टि) । यमेवेष वृणुते ते नैवलभ्यः तस्यैस आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्—मु० ३, २, ३ आत्मा जिसे चाहती है, उसे ही केवल आत्मा की अनुभूति होती है। परन्तु साधना से जो आत्मशुद्धि होती है वह तो वांछनीय है ही । आईना जब स्वच्छ होता है तो उसमें प्रत्येक प्रकार का उज्ज्वल प्रतिबिंब दिखाई दे सकता है, इसी प्रकार योगी को अपनी चरम साधना पर पहुँच जाने के बाद आत्मदर्शन हो जाता है । वह अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। जैसे दीपक के सहारे मनुष्य वस्तु को ठीक-ठीक देख सकता है, उसी तरह वह अपनी आत्मा के सहारे उस विराटात्मन् का दर्शन कर पाता है जो परम तत्त्व है, जो अस्तित्व और नाश के परे है । श्वे० २, १४, १५ ।"

निर्गुण संप्रदाय में जिस परिभाषा में ब्रह्म का वर्णन किया है, उसी परिभाषा में ईशोपनिषद् आत्मा के लिए कहता है—"वह चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और निकट है। वह सब वस्तुओं के भीतर है और बाहर है।" इस कहने का क्या तात्पर्य होता है, यह तो योगी ही जान सकता है। हम जो बाहर से देखते हैं, जो रहस्य के अंतःपुर में प्रवेश नहीं कर पाते, कैसे जान पायें कि आत्मा (ब्रह्म) की महत्ता और अनेक रूपता में ये समस्त विरोधी स्वभाव संश्लिष्ट हो जाते हैं। योग-निष्ठ पुरुष अपनी साधना की इस उच्चावस्था में ब्रह्म की सत्ता को अपनी सत्ता में एकाकार देखता है। "अहमस्मि" और "तत्त्वमसि" का उसे अनुभव होता है। इससे उसकी समस्त इच्छाएँ शांत हो जाती हैं। कर्म में उसकी रति नहीं रहती। शंकाओं का समाधान हो जाता है और संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। वह सत्य (ब्रह्म) को आत्मसात् कर लेता है। उसे परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है (बृहदा० ४-४-७; छांदो० ३-१-२)

इस अद्वैतावस्था का वर्णन उपनिषद् इस प्रकार करते हैं—"सपाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्ट यदा पश्यति अन्यमी शमस्य महिमान मिति वीतशोकः, जीव पुरुष के साथ एक ही वृक्ष पर समासीन था परन्तु अपनी अकर्मण्यता के कारण शोक में मग्न था। जब परम शक्तिवान सत्ता से उसकी भेंट हो जाती है तो उसमें अलौकिक शक्तियाँ आ जाती हैं और समस्त शोकों का नाश हो जाता है—(मुं० ३, १-२)" "जब मनुष्य पत्नी का आलिंगन करता है तो वह और कुछ भी नहीं जान पाता; जो भीतर हो रहा, जो बाहर हो रहा है, वह सब उसके लिए जैसे नहीं हो रहा। इसी प्रकार ब्रह्म जिसे मिल जाता है उसे बाहर भीतर कुछ भी नहीं रह

जाता--न माता, न संसार, न ईश्वर, न दस्यु, न हत्यारा, न चांडाल। तब द्वैत नहीं रहता। ब्रह्म के अनंतर किसी भी वस्तु के अस्तित्व का चेतना नहीं रहती। (बृहदा० ४, ३, २१—२२)" "जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्र में लोप हो जाती हैं, उसी प्रकार नाम-रूप खोकर विद्वान (योगी) ब्रह्म में अंतर्धान (लीन) हो जाता है (मुं० २०२, ६-८)" इस दृश्य में कर्ता और कर्म एक हो जाते हैं, ध्याता और ध्येय में कोई अंतर नहीं रह जाता और जानना होना हो जाता है। नाम-रूप से उत्पन्न द्वैत मिट जाता है। परन्तु साधक के व्यक्तित्व की भावना या उसका अहम् का एकदम ही नाश नहीं हो जाता। धीरे-धीरे ही ऐसा होता है। पहले तो एकता और विभिन्नता की भावनाएँ मिली होती हैं। परन्तु धीरे-धीरे एकत्व की भावना को प्रधानता मिलती है और द्वैत लुप्त हो जाता है। साधक ब्रह्म में मिल जाता है, उसमें डूब कर एकाकार हो जाता है, ब्रह्म हो जाता है। उसे इंद्रियातीत आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द से भय का नाश हो जाता है। भयहीन सत्ता में जिसकी स्थिति है, उसे भय कैसा (आनंद ब्रह्मणे विद्वान न बिभेति कदाचन। तैत्तिरीय, २, ४)

उपनिषदों की यह रहस्यवादी विचार-धारा कबीर के साहित्य में सम्पूर्ण रूप से मिल जाती है। उपनिषद में चित्सत्ता को "नेति-नेति" कहा, विरोधी धर्माश्रय बताया है; कबीर भी कहते हैं—

सन्तो, धोखा कासूँ कहिये
गुण में निरगुण निरगुण मैं गुण, बाट छाँड़ि क्यूँ बहिये
अजरा-अमरा कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई
नाहिं सरूप, बरण नहिं जाकै, घटिघटि रह्यौ समाई
प्यंड-ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई
प्यंड-ब्रह्मंड छोड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई

एक दूसरे स्थान पर वे कहते हैं—

जाकै मुँह माथा नहीं, नाहीं रूपक रूप
पुहुप बास थै पातला, ऐसा तत्त अनूप

उस चिन्मय सत्ता का कोई क्या पता दे, वह तो अनुभव की चीज़ है, भाषा तो थक जाती है, वहाँ पहुँच ही नहीं सकती। कबीर उसे निर्गुण-सगुण से परे, हद-बेहद से परे बताते हैं। जब उसे निर्गुण-सगुण से परे की सत्ता से परिचय हो जाता है, तब भाषा मूक हो जाती है—

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहना नाहिं
एक रही दूजी रही, बैठा दरिया माँहि
साखी शब्दी कब कही, मौन रहे मन माँहि
बिछुरा था कब ब्रह्म सों, कहिबे को कछु नाहिं
साखी-शब्दी जब कही, तब कछु जाना नाहिं
बिछुरा था तब ही मिला, अब कछु कहना नाहिं

साधक "बेहद के देस" में पहुँच जाता है। इस देश का कबीर इस प्रकार वर्णन करते हैं—

हम बासी उस देश के, जहाँ बारह मास बिलास
प्रेम झरै बिलसैं कमल, तेजपुंज परकास
हम बासी उस देश के, जहवाँ नहिं मास बसन्त
नीझर झरै महा अमी भीजत सब संत
हम वासी उस देश के, जहाँ जाति बरन कुल नाहिं
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं
हम बासी वा देश के, जहाँ पारब्रह्म का खेल
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती बिन तेल

इसे ही कबीर ने अनेक प्रकार से कहा है। इस आनन्द के देश की कथा ही अनिर्वचनीय है—

गगन गरजै बरषै अमी, बादल गहर गँभीर
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर
गगन-मण्डल के बीच में तहवाँ झलकै नूर
निगुरा महल न पावई, पहुँचैंगे गुरुपूर
गगन गरिजि अमृत चुवै, कदली-कँवल प्रकास
तहाँ कबीरा बंदगी, कै कोई निजदास

गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना, उदय औ' अस्त का नाम नाहीं
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये, प्रेम परकास के सिंधु माहीं
सदा आनंद दुखदंद व्यापै नहीं, पूरनानंद भरपूर देखा
मर्म औ' भ्रान्ति तहँ नेक आवै नहीं, कहै कबीर रस एक देखा

इसी देश को कबीर "साईं की नगरी" कह कर अद्भुत रूप से माधुर्य की सृष्टि करते हैं—

नैहरवा हमको नहिं भावै
साईं की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोइ जाइ न आवै
चाँद सुरुज जहँ पवन न पानी, को संदेस पहुँचावै
दरद यह साँईं को सुनावै
आगे चलौं पंथ नहिं सूझै, पीछे दोष लगावै
केहि विधि ससुरे जाँव मोरी सजनी, बिरहा जोर जनावै
विषै-रस नाच नचावै
बिन सतगुरु अपने नहिं कोई, जो यह राह बतावै
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै
तपन यह जिय की बुझावै

अद्वैतावस्था की जिस आनन्द-स्थिति का वर्णन उपनिषदों ने किया है, उसे ही कबीर लगभग उन्हीं शब्दों में कहते हैं—

मोतिया बरसै रौरे देशवा दिन-राती
मुरली-शब्द सुनि मन आनन्द भयो, जोति बरै दिनराती

बिना मूल के कमल प्रगट भया, फुलवा फुलत भाँति भाँती
जैसे चकोर चंद्रमा चितवै, जैसे चातक स्वाती
(शब्दावली)

इस अद्वैतावस्था के आनन्द और इसके अभाव में साधक की दुखमय मनोस्थिति का वर्णन करने के लिए कबीर ने पति-पत्नी के विरह और मिलन के सुख-दुःख का रूपक खड़ा किया है। आत्मा जब तक इस "संसार" में लगी हुई है, इंद्रियों के माया जाल में लिप्त है, तब तक वह "नैहर" में है। तब तक उसे वियोग जनित दुःख है। वह विरहिनी है—

कैसे जीवेगी बिरहिनी पिया बिन कीजै कोन उपाय
दिवस न भूख रैनि नहिं सुख है, जैसे कलियुग जाय
खेलति फाग छाँडि चलु सुन्दर तजु चलु धन औ' धाम
बन खँड जाय नाम लै लावौ मिलि पिय से सुख पाय
तलफत मीन बिना जल जैसे, दरसन लीजै धाय

इस विरहिणी आत्मा के दुःख को कबीर अनुभूति की सच्चाई से व्यक्त करते हैं। इस दुःख की अनुभूति (जिसे विरह की साधना भी कहा गया है) ही प्रिय को पहचानने का एकमात्र मार्ग है। इसीसे भक्त-कवि इसका वर्णन करते नहीं थकते। कबीर कहते हैं—

अंखड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि
जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि
नैना नीझर लाइया रहट बसै निसजाम
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम

इस विरह के साधक (रामभक्त) की व्याकुलता का क्या पूछना? चकवी को प्रभात होने पर मिलने की आशा तो बनी है, परन्तु इस दुखी के लिए तो दिन-रात एक जैसे हैं—

चकवी बिछुरी रैणि की, आइ मिली परभाति
जे जन बिछुरे राम से ते दिन मिले न राति
बासरि सुख ना रैण सुख, ना सुख सपनै माँहि
कबीर बिछुर्‍या रामसूँ ना सुख धूप की छाँह

जब "निर्गुण" के प्रति इस विरहिणी के अभिसार और पंथ की कठिनाइयों का कबीर वर्णन करते हैं, तो उसमें आलंबन की रहस्यमयता के कारण अस्पष्टता आ ही जाती है। इसे ही रहस्य-वाद कह दिया जाता है—

भीजै चुनरिया प्रेम रस बूँदन
आरती साज के चली है सुहागिनि
प्रिय अपने को ढूँढन
मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय
समझि सोचि पग धरौं जतन से, बारबार डिग जाय
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय
लोकलाज कुल की मरजादा, देखत मन सकुचाय

परन्तु यदि हम यह भलाभाँति समझ लें कि यह रूपक है और यह अभिसार वास्तव में मन और हृदय के भीतर होता है तो हम इस रहस्यवाद की कुञ्जी पा लेंगे। स्वयं कबीर अभिसार पदों के अंत में रूपक को खोल देते हैं—

पिया मिलन की आस रहों कब लौं खरी
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी
पाँव नहीं ठहराय चढूँ गिरि-गिरि परूँ
फिरि फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ
अंग अंग थाक्यो तो केहि विधि डरि रहूँ
करम-कपट मग फेरि तो भ्रम में परि रहूँ
बारी निपट अनारि तो भीनी गैल है,

अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है
छोरो कुमति–विकार सुमति गहि लीजियै
सतगुरु शब्द सम्हारि चरन चित दीजियै
अन्तरपट दे खोल शब्द उर लाव ही
दिलबिच पिया कबीर मिलैं तोहिं बावरि

अभिसार का अंत है ब्रह्म की प्राप्ति। कबीर अभिसारिका के रूपक को ही आगे बढ़ाते हैं—

ए अँखिया अलसानी हो पिया हो सेज चलो
खंभ पकरि पतंग अस डोलै, बोलै मधुरी बानी
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यो पिया बिना कुम्हलानी
धीरे पाँव धरौ पलँगा पर जागत ननंद जिठानी
कहत कबीर सुनो भई साधो, लोकलाज बिछलानी

इस मिलन सुख का वर्णन तो हो ही नहीं सकता। भक्त के लिए यह कौतुक है—

कबीर तेज अनंत का मानौं ऊगी सूरज सेणि
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि
अविनासी की सेज का कैसा है उनमान
कहिबे की सोभा नहीं देखे ही परमान
अविनासी की सेज पर केलि करे आनन्द
कहै कबीर वा सेज पर विलसत परमानन्द

इस मिलन की अनिर्वचनीयता को भली भाँति समझ कर ही समझाने की चेष्टा करते हुए कबीर ने उलटबासियों का आश्रय लिया है और चमत्कार प्रगट करने के लिए चमत्कारपूर्ण प्राकृतिक संघटनों की सृष्टि की है। कहना यही है कि जीव–ब्रह्म, असीम-ससीम के मिलन का आनन्द अलौकिक घटना है जो अनुभव का विषय है, कहने-सुनने की बात नहीं !

यही अनिर्वचनीय अनुभव "रहस्यवाद" कहा जा सकता है। परन्तु सचमुच रहस्यवाद क्या है, यह कहना कठिन है। पश्चिम के कुछ विद्वानों ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार दी है—

Mysticism is the type of religion which puts the emphasis in immediate awareness of relation with God, on direct intimate consciousness of the Divine Presence. It is religion in its most acute, intense and living stage. (R. M. Jones)

Persons who have been face to face with God, who have heard His voice and felt His presence (are Mystics)

Christian Mysticism is the doctrine, or rather the experience of the spirit—the realisation of human personality as characterised by and consummated in the indwelling reality, the will of Christ which God.

(Canon R. C. Moberly)

There are times when powers and impressions out of the course of mind's normal action and words that seem spoken by a voice from without, messages of mysterious knowledge, of counsel or warning, seem to indicate the intervention, as it were, of a second soul. (This is mystic experience).

(Attitude of C. F. Andrews summed up by the "Leader" in its leading article of Jan. 4, 1939)

कबीर का रहस्यवाद इसी श्रेणी का अनुभव उपस्थित करता है। उसकी सच्चाई में सन्देह नहीं किया जा सकता। जब कबीर कहते हैं—

गगन गरजै बरषै अमी, बादल गहर गँभीर
चहुँदिसि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर

या

करत कल्लौल दरियाव के बीच में,
ब्रह्म की छोल में हंस झूलै
अर्ध औ' ऊर्ध्व की पेंग बाढ़ी तहाँ,
पलट मन पवन को कँवल फूलै
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै
होत झनकार नित बजत तूरा
वेद-कित्तेब की गम्म नाहीं तहाँ
कहै कबीर कोइ रमैं सूरा

(शब्दा० पृ० १०४)

या

वै दिन कब आवैंगे माइ
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवौ अंग लगाइ
हौं जानूँ जे हिलिमिलि खेलूँ, तन-मन-प्रान समाइ
याँ कामना करौ परिपूरन, समरथ हौ रामराइ

या

अब तोहि जाँन न दैहूँ राम पियारे
ज्यूँ भावै त्यूँ होइ हमारे ॥टेक॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये
चरननि लागि करौ बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई
इत मन मंदिर रहौ नित चोषै, कहै कबीर परहु मत धोखे

या

माई रे अद्‌भुत रूप अनूप कथो है, कहौं तो को पतियाई
जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई सब घट रहा समाई
लख बिनु सुख दखि बिनु दुख है, नींद बिना सुख सोवै
जरु बिनु ज्योति रूप बिनु आसिक, रान बिहूना रोवै

भ्रम बिनु गंजन मनि बिनु निरखै, रूप बिन बहु रूपा
स्थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनँद, ऐसा चरित अनूपा

तो हम उनकी अनुभूति को समझ नहीं पाते, क्योंकि वह तर्क का विषय नहीं है, ज्ञान का विषय है। ऐसी अनुभूति को समझने के लिए स्वयं भी अनुभूति की इतनी ही ऊँची भूमि पर उठा होना चाहिये। तब तो यही कर सकते हैं कि कबीर की साक्षी पर उनकी अनुभूति की सत्यता में विश्वास करें।

फिर भी यदि हमें कबीर के रहस्यवाद पर आग्रह ही हो तो हमें उनकी रचनाओं में दो श्रेणियों का रहस्यवाद मिलेगा—(१) उपनिषदों का रहस्यवाद या वेदांती रहस्यवाद और (२) योग का रहस्यवाद जिसका आधार पिंड में ब्रह्मांड की स्थिति है। अद्वैत मूलक रहस्यवाद में आत्मा को विरहिनी, प्रोषितपतिका या आगतपतिका के रूपों में चित्रित किया है और उसके हर्ष-विषाद को उपस्थित किया है। यहाँ अरूप में रूप की योजना है। आलंबनों की सूक्ष्मता और रूपक की स्थूलता के कारण काव्य में अस्पष्टता आ जाती है। इसे हम रहस्यवाद कहते हैं। अनंत की सेज ही क्या, परन्तु जब कबीर कहते हैं—

ए अंखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो

तब अस्वीकार करने को कुछ नहीं रह जाता। जब भक्त कबीर की आत्मा विरहाकुल हो पुकार उठती है—

ऋतु फागुन नियरानी हो
कोई पिया से मिलावे

तब हम भी दुखी हो जाते हैं—उनकी "अकथ कहानी" हमारी अंतरात्मा को झकझोर डालती है। परन्तु दूसरे प्रकार का रहस्य-वाद योग के प्रतीकों को लेकर चलता है। ये योग के प्रतीक हैं चक्रभेद कर कुण्डलिनी का सहस्रार में पहुँच जाना, अमीरस का

...व और उससे उन्मनी अवस्था की प्राप्ति। इस श्रेणी के रहस्य-वाद का कबीर को व्यक्तिगत अनुभव था या वे नाथों के अनुभव की परम्परा को ही रत्ता करते रहे, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। एक ही समय दो प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूतियों की साधना करने वाला मनुष्य अद्भुत होगा। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कबीर अद्भुत थे। इस दूसरी श्रेणी के रहस्यवाद की कुञ्जी वे प्रतीक हैं जिनका हमने अन्य स्थान पर उल्लेख किया है। परन्तु हमको यह समझ लेना चाहिए कि भरतीय साधना सदैव ही व्यक्तिगत रही है और परम्परागत पारिभाषिक शब्दों से व्यक्ति की भीतरी साधना को टटोला भर ही जा सकता है।

८

कबीर के नैतिक विचार

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्तों में आचार-विचार का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्मदर्शन के लिए आचार-विचारों की नितांत शुद्धता वांच्छनीय ही नहीं, आवश्यक है। कबीर ने जिस आत्मज्ञानी की प्रशंसा की है वह संयमी है, उसे हर्ष-विषाद समान हैं, वह निष्काम कर्म करता है, संतापी है, सावधान है, सुशील है, प्रसन्न और निर्विकार है। गंभीरमति, धीरज, दया, निर्वैर, हृदय की कोमलता, सेवा, परस्वार्थ—ये उसके स्वाभाविक गुण हैं। उसका कोई संप्रदाय नहीं। कबीर कहते हैं—

सिंहों के लेहेंड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत
लालों की नहिं बोरियाँ, साध न चलैं जमात

उसे आडम्बरों से चिढ़ है। यदि वह योगी है तो मन का योगी है जो

"मन माला तन मेखला, भय की करै भभूत
अलख मिला सब देखता, सो जोगी अवधूत"

वह मध्य मार्ग का उपासक है। "भजन तजन के बीच में" है, न हिंदू है न मुसलमान। "अति" का उपासक नहीं है। समदृष्टा है। इसीसे वह सब मतमतांतरों का सार ग्रहण कर लेता है। कबीर का कहना है—

साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय

उन्होंने उसे "हंस" या "कोल्हू" कहा है जो सार को ग्रहण कर लेते हैं, निस्सार को छोड़ देते हैं।

कहने भर में इस नैतिक मार्ग में कुछ नहीं, परन्तु इस पर चलना टेढ़ी खीर है। जो इस पर चलता है, उसे कबीर ने ठीक ही सूर (सूरमा) कहा है। संत तो सूरमा है। वह मन की वासनाओं से छूटने और अप्राप्त को पाने में प्राण लड़ा देता है। कबीर का उपदेश है—

पकड़ समसेर संग्राम में पैसिये
देह-परजंत कर जुद्ध भाई
काट सिर बैरियाँ दाब जहँ का तहाँ
आम दरबार में सीस नवाई
सूर संग्राम को देख भागे नहीं
देख भागै सोई सूर नाहीं
काम और क्रोध मद लोभ से जूझना
मचा घमसान तनखेत माहीं
सील और साँच संतोष साही भये
नाम समसेर तहाँ खूब बाजै
कहै कबीर कोइ जूझिहै सूरमा
कायराँ भीड़ तहँ तुर्त भाजे
साध को खेल तो बिकट बेड़ाँ मती
सती और सूर की चाल आगे
सूर घमसान है पलक दो चार का
सती घमसान पल एक लागै
साध संग्राम है रैनदिन जूझना
देह परजंत का काम भाई

स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति आचार-निरपेक्ष नहीं है। वह देह, मन और बुद्धि की ऐकांतिक साधना का फल है। बाह्याचारों के

विरोध ने इस अभ्यंतर की साधना को बात को और भी चमका दिया है। आगे हम कबीर के काव्य के इसी अंग पर विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे।

१. सतगुरु

जहाँ साधना के व्यक्तिगत रूप पर बल है, वहाँ तत्त्ववेत्ता गुरु की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण है। समस्त आचार-विचारों का उद्गम स्रोत वही है। इसीसे गुरु की प्रशंसा करते हुए कबीर थकते नहीं। कीट-भृङ्ग, कुम्भ कुम्भकार और मृग-बधिक के संबन्धों को लेकर उन्होंने गुरुशिष्य के संबन्ध को समझाने की चेष्टा की है। किम्बदन्ती है कि भृङ्ग कीट को बीच में रख कर उसके चारों ओर घूमता है तो कीट भी भृङ्ग हो जाता है।

सतगुरु आँखें खोल कर ब्रह्म (अनंत) के दर्शन करता है।[1] वह गोविंद से भी बड़ा है क्योंकि उसीसे गोविंद तक पहुँचा जा सकता है।[2] जो गुरु इतना करे उसका गुण क्या कहा जा सकता है। उसे "सबद" द्वारा "साहेब" के दर्शन कराये। गुरु के साथ से ज्ञान, प्रेम, शान्ति, दया, भक्ति विश्वास आते हैं। मोह, वासना हर्ष-शोक जाते रहते हैं। उसने मार्ग में बहते हुए मुझे ज्ञानदीपक हाथ में दिया। उसे मन सौंप दे, तन सौंप दे। उसके मिलने से बाहर अंधकार हो जाता है, भीतर प्रकाश।[3] गुरु निःसंदेह वीर पुरुष है जो शिष्य की दुर्वासनाओं से लड़ता है और उसे साधारण धरातल से ऊपर उठाता है। इसी को कबीर रूपक बाँध कर इस तरह कहते हैं—

---

[1] लोचन अनँत उघारिया, अनंत दिखावन हार

[2] गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय
बलिहारी गुरु आपने (जिन) गोविंद दियो बताय

[3] कोटिन चंदा ऊगवै, सूरज कोटि हजार
सतगुरु मिलिया बाहरे बीझन घोर अँधार

सतगुरु है रंगरेज, चुनर मोरी रंग डारी
स्याही रंग छुटाइ के रे
दियो भजीठा रंग
धोये से छूटै नहीं रे
दिन दिन होत सुरंग

परन्तु कबीर गुरु की प्रशंसा करके ही नहीं रह जाते वह शिष्य को सतगुरु के चिह्न भी बता देते हैं—

ऐसा कोई नाँ मिलै हमकौं दे उपदेस
भौंसागर मैं बूढ़ता, कर गहि काढ़ै केस
ऐसा कोई नाँ मिलै, हमकौं लेइ पिछानि
अपना करि किरपा करै, लै उतारै मैदानि
ऐसा कोई नाँ मिलै, राम भगति का मीत
तन-मन सौंपे मृग ज्यूँ, सुनैं बधिक का गीत
ऐसा कोई नाँ मिलै, अपना घर देइ जराइ
पंचू लरिका पटिक करि, रहै हाँथ ल्यौ लाइ
ऐसा कोई नाँ मिलै, जासौं रहिये लागि
सब जग जलता देखिये, अपणीं-अपणीं आगि
ऐसा कोई नाँ मिलै, जासूँ कहूँ निसंक
जासूँ हिरदै की कहूँ, सो फिरि माँडै कंक

सच तो यह है कि आचारण-प्रधान प्रत्येक मत में गुरु की महत्ता अपार है और सच्चे गुरु को ढूँढ़ना आवश्यक है।

२. सत्संग[1]

गुरु के बाद दूसरा स्थान साधु की संगति का है। कुसंगति

---

[1]देखिये विवेचना के लिये क० ग्र० कुसंगति कौ अङ्ग (२५), संगति कौ अंग (२६), असाध कौ अंग (२७), साध कौ अंग (२८)।

के कारण गुरु का भी प्रभाव कम हो जाता है। साधनाव्रती मनुष्य के लिए प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण है। वह कभी भी राह से भटक सकता है। इसीसे कबीर ने अनेक पदों में कुसंगति से दूर रहने का उपदेश दिया है और सत्संग की महिमा गाई है। साध की संगति सत्संग है, असाध की संगति कुसंगति है। उनका कहना है—

> कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाय
> जो जैसी संगति करै सो तैसे फल खाइ

यही नहीं, वे भक्तों के स्वर में पुकारते हैं—

> मथुरा जावै द्वारिका यावै जावै जगनाथ
> साध संगति हरि भगति बिन, कछू न आवै हाथ

३. साध[1]

तब प्रश्न यह उठता है कि साध कौन है? उसके लक्षण क्या हैं? कबीर कहते हैं साध (साधु) किसी से वैर नहीं करता। वह निष्काम है। हरिभक्त है। उसे विषय नहीं सताते। वह सदैव कोमल और विनम्र रहता है। वह जगत से वैरागी और इशोन्मुख है। वह निःस्वार्थी है। निःसंशय है। कबीर का साधु का वर्णन भक्त के रूप का ही वर्णन है—

> कबीर हरि का भावता, झीणाँ पंजर तास
> रैणि न आवै नींदड़ी, अंग न चढ़ई मास
> अणरता सुख सोवणाँ, रातै नींद न आइ
> ज्यूँ जल छुटै मँछली, यूँ वेलंत बिहाइ

---

[1] विशेष विवेचना के लिए देखिये साध साषीभूत कौ अंग (२६) और साध महिमा कौ अंग (३०)

राम वियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्है कोइ
तंबोली के पान ज्यूँ, दिन दिन पीला होइ

इस प्रकार कबीर के साधु में उच्चतम नैतिक भावना, हरिभक्ति और वैराग्य का उत्कृष्ट कोटि का सम्मिश्रण है।

४. मध्य[1]

इस साध के लिए कबीर मध्यमार्ग का आग्रह करते हैं। इस "मध्य" शब्द को कबीर ने अनेक भावनाओं का व्यंजक बनाया है। वह द्वैत और अद्वैत के बीच की स्थिति, साधना की कठोर और कोमल अवस्थाओं के बीच की अवस्थिति, जाति-पाँति (हिन्दू मुसलमान) के बीच की सामाजिक स्थिति और सुख-दुःख के बीच की स्थिति का परिचायक है। कबीर द्वन्दों से ऊपर उठ कर आत्मस्थित होने का उपदेश देते हैं। इन द्वन्दों के ऊपर भक्त की अवस्था का वर्णन कबीर में मिलता है।[2]

५. ज्ञान (विचार)[3]

कबीर केवल मध्यावस्था के ग्रहण का आग्रह करके ही नहीं रह जाते। वे ज्ञान (सम्यक् विचार) पर भी बल देते हैं। आचार-विचार का ज्ञान से निकट का संबंध है। ज्ञान के द्वारा ही साधक को अज्ञान (माया) की प्रबलता और अपनी दुर्बलताओं का पता चलता है और वह उनके परिहार की चेष्टा करता है।

सच तो यह है कि कबीर का सारा साहित्य ही नैतिक भावनाओं से भरा हुआ है। कबीर कहते हैं—

[1]देखिये मधि कौ अंग (३१)

[2]कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल पाइ
रामसनेही यूँ मिले दून्यूँ बरन गँवाइ

[3]देखिये विचार कौ अङ्ग (३३) और उपदेश कौ अङ्ग (३४)

सील-सन्तोष सदा समदृष्टि, रहनि-गहनि में पूरा
ताके दरस-परस भय भाजै, होइ कलेस सब दूरा

इसी तरह वह जाति-पाँति के ऊपर उठ कर पुकारते हैं—

सन्तन जात न पूछो, निरगुनियाँ
साध ब्राह्मन साध छत्तरी, साधै जाती बनियाँ
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ

अंत में, हम उनका एक पद उद्धृत करके इस प्रकरण को समाप्त करते हैं—

तेरा आधार आध है कोई
काम क्रोध अरु लोभ विवर्जित, हरिपद चीन्है सोई
राजस तामस-सातिग तीन्यू, ये सब तेरी माया
चौथे पद कौं जे चीन्है, तिनहि परमपद पाया
अस्तुति-निंदा-आसा छाँड़ै, तजै मान अभिमाना
लोहा-कचन समि करि देखै, ते मूरति भगवाना
च्यंतै तो माधौ चिंतामणि हरिपद रमै उपासा
त्रिसनाँ अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सो दासा

इस पद में उच्चकोटि की आध्यात्मिक साधना की भूमिका में उतनी ही उच्चकोटि की नैतिकता को स्वीकार किया गया है। नीति और आचार-विचार की शुद्धता के बिना तो संत-साधक एक कदम आगे नहीं बढ़ सकता। कबीर का आधा साहित्य इसी नीति और आचार की शुद्धि के उपदेशों से भरा पड़ा है।

—

९

कबीर की भाषा

कबीर की भाषा के संबंध में परिस्थिति बड़ी विषम है। रेवरेण्ड, अहमदशाह का कहना है कि कबीर की हिन्दी वह बोली है जो बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर में बोली जाती है; परन्तु सर जार्ज ग्रियर्सन को इनसे मतभेद है। वे कहते हैं कि इन स्थानों की भाषा भोजपुरी का ही कोई-न-कोई प्रकार है और बीजक में भोजपुरी का कुछ भी चिह्न नहीं है। उनके अनुसार कबीर की भाषा पुरानी अवधी है जो पश्चिमी मिर्जापुर, इलाहाबाद और अवध की लोक-भाषा है। उनका कहना है कि कबीर की भाषा तुलसी की भाषा से अभिन्न है। जैसा हम पीछे कह चुके हैं, कबीर के पद लगभग आधी दर्जन भाषाओं में मिलते हैं और कितने ही पदों में अनेक भाषाओं की पँचमेल खिचड़ी है। इससे ही इस भाषा को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सधुक्कड़ी भाषा या साधुओं की भाषा कहा है। साधु पर्यटनशील होते हैं। किसी विशेष प्रदेश की भाषा के लिए उनका आग्रह भी नहीं होता, इससे उनकी भाषा में मातृभाषा के ऊपर अनेक प्रादेशिक भाषाओं की छाप पड़ कर एक विचित्र प्रकार की भाषा बन जाती है। आदिग्रंथ से जो पद प्राप्त हुए हैं, उनकी भाषा स्पष्टतः पंजाबी मिश्रित है और बाबा मलूकदास की पोथी की भाषा पर राजस्थानी की छाप है। कबीर की भाषा के पंजाबीपन के सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—"कबीर की रचनाओं में पंजाबीपन की जो छाया है; उसका क्या कारण हो सकता है? कबीर तो

पंजाब के निवासी नहीं थे। इसे कुछ तो प्रान्त विशेष के भक्तों और कुछ लिपिकारों की कृपा का फल ही समझना चाहिये।" मुख्यतः कबीर की भाषा के तीन रूप मिलते हैं— पूरबी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी। स्पष्ट है कि कबीर की भाषा पूरबी हिन्दी ही रही होगी। हमें इस पूरबी हिन्दी के रूप को ही समझना है।

सामान्य रूप से हम कबीर की भाषा के संबंध में इस प्रकार लिख सकते हैं—

(१) परम्परा ग्रहीत शब्दों और प्राचीन क्रिया-रूपों के कारण यह भाषा आज कुछ जटिल पड़ती है।

(२) इसमें बोलचाल की भाषा, मुहावरों, विश्रृंखल वाक्य-प्रयोगों और श्लेष का प्रयोग हुआ है, इससे परिस्थिति और भी कठिन हो गई है।

(३) कबीर ने कितने ही ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो आज प्रचलित नहीं हैं या दूसरे अर्थों में प्रचलित हैं।

(४) कबीर व्याकरण की शुद्धता पर विशेष ध्यान नहीं देते।

(५) उनकी भाषा में फारसी, अरबी और तुर्की शब्द तद्भव और तत्सम रूपों में आये हैं। अकेले बीजक में २००-२५० विदेशी शब्द हैं।

(६) जनता की भाषा होने के कारण वह ऊबड़-खाबड़ है और उसमें नागरिकता का अभाव है।

(७) उस समय तक हिन्दी में अधिक नहीं लिखा गया था। यही नहीं पंडित-समाज लोकभाषा में रचना करने का विरोधी था। कबीर-तुलसी आदि को इस विरोध का सामना करना पड़ा और अपनी भाषा आप गढ़नी पड़ी। तुलसी पंडित थे, अतः उन्होंने लोक-भाषा और संस्कृत का अत्यंत सुन्दर गठबंधन किया। कबीर संस्कृत से अनभिज्ञ थे, उन्होंने लोकभाषा को ही अपना माध्यम बनाया। भाषा के परिष्कार की उन्हें कोई चिंता नहीं थी।

हिन्दी के पंडितों ने कबीर की भाषा की श्रेष्ठता के संबंध में अत्यंत विरोधी मत प्रगट किये हैं। जहाँ डा० रामकुमार कहते हैं— "भाषा बहुत अपरिष्कृत है। उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है" वहाँ श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि "भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रगट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है,—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताक़त कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम-अनंत ब्रह्मानंद में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर,—पकड़ में न आ सकने वाली ही, बात है। पर "बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय" में न केवल उस गंभीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानंद का आस्वाद कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्दी नहीं जानते। पंडित और काज़ी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी—सभी उनके व्यंग से तिलमिला जाते हैं। अत्यंत सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता।" (कबीर, पृ० २१६)

सच बात यह है कि कबीर के भावों की तरह उनकी भाषा में भी सत्य जैसी उज्ज्वलता है जो पाठक को एकदम चमत्कृत कर देती है। उसमें काव्य-गुणों को ढूँढ़ना उपहासास्पद होगा क्योंकि

यहाँ कविता ध्येय ही नहीं है। केवल कवि से तो संतकवि को घृणा ही है—

कवि कवीने कविता मुए

वह कविता के लिए कविता नहीं लिखता, उसे भाव-प्रकाशन का माध्यम मात्र बनाता है। परन्तु उसके भावों की उज्ज्वलता उसकी भाषा का सहज शृंगार है। उसमें अलंकारों और अनुप्रासों की तड़क-भड़क नहीं है, परन्तु उसमें चकित, मुग्ध और प्रभावित कर देने वाली शक्ति है जो केवल महाकवि के काव्य में ही मिल सकती है।

कबीर ने लोकभाषा की संदेशवाहक-शक्ति को पहचान कर ही उसे अपनाया था। उन्होंने अपने स्वाभाविक बल के साथ कहा—

सस्कीरत है कूपजल, भाषा बहता नीर

इसी "बहते नीर" (लोकभाषा) को कबीर ने अपना आदर्श माना है। इसी से उनमें पिंगल की शुद्धता नहीं, संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं, विदेशी शब्दों को तद्भव रूप में ही स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि भाषा के सर्वनामों और क्रियापदों की शुद्धता की ओर भी आग्रह नहीं है। ये बातें तो गौण हैं, प्रधान बात है कि भाषा उस ऊँचे धरातल तक उठ सके जिस ऊँचे धरातल पर उठ कर कवि को अपना संदेश देना है। कबीर की भाषा की विशेषता है उसकी समास-शक्ति और समाहार-शक्ति। वह बलवान् की भाषा है—

हंसा कहो पुरातम बात
कौन देस से आया हंसा, उतरता कौन घाट

कहाँ हंसा बिसराम किया है, कहाँ लगाये आस
अबहीं हंसा चेत सबेरा, चलो हमारे साथ
संसय-सोक वहाँ नहिं व्यापै, नहीं काल कै त्रास
हुआँ मदन-बन फूल रहे हैं, आवे सोहं बास
मन भौंरा जहँ अरुझ रहे है, सुख की ना अभिलास

"अद्वैत" को कितनी शक्ति के साथ कबीर प्रकट करते हैं कि देखते ही बनता है, यद्यपि भाषा उनके बली हाथों के नीचे कुचल-सी गई है—

दरिया की लहर दरियाव है जी
दरिया और लहर में भिन्न कोयम्
उठै तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जी दूसरा किस तरह होयम्
उसी का फेर के नाम लहर धरा
लहर के कहे क्या नीर खोयम्
जक्त ही फेर सब जक्त परब्रह्म में
ज्ञान कर देख माल गोयम्

यह भाषा अत्यन्त विभिन्न और चमत्कारी लय-प्रधान छंदों में प्रकट होकर और भी प्रभावशाली बन जाती है—

१. पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली
ऊँची अटरिया जरद किनरिया, लगी नाम की डोरी
चाँद सुरज सम दियना बरतु है, ता बिच भूली डगरिया
२. पीले प्याला हो मतवाला, प्याला नाम अमीरस का रे
३. करो जतन सखी साँई मिलन की
गुडिया गुडवा सूप सुपलिया,
तजि दे बुधि लरिकैयाँ खेलन की
४. कैसे दिन कटिहैं जतन बताये जइयो

एहि पार गंगा ओहि पार जमुना,
विचवाँ मड़इया हमकाँ छवाये जइयो
अँचरा फारिके कागज बनाइन
अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो
कहत कबीर सुनो भाई साधो
बहियाँ पकरि के रहिया बताये जइयो

५. डँडिया फँदाय धन चलु रे, मिलि लेहु सहेली
दिनाँ चारि को संग है, फिर अंत अकेली

६. ई माया रघुनाथ की बौरी, खेलन चली अहेरा हो
चतुर चिकनिया चुनि चुनि मारे, काहु न राखे नेरा हो

परन्तु कबीर की फक्कड़ भाषा, ऊबड़ भाषा और गँवारू भाषा उनकी अपनी चीज़ है। उसका अनसँवारापन ही उसका सहज आकर्षण है। "अब मोहि ले चलु ननद की बीर अपने देसा" "तलफै बिन बालम मोर जिया" जैसे लोकगीतों के टुकड़े कबीर की भाषा की शक्ति है।

कबीर में काव्य रस का एकदम अभाव हो, यह बात भी नहीं। उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, रूपक, श्लेष जैसे कितने ही अलंकार उनकी, रचनाओं में भरे पड़े हैं—

जिससे रहनि अपार जगत में, सो प्रीतम मुझे पियारा हो
जैसे पुरइनि रहि जल-भीतर, जलहि में करत पसारा हो
वाके पानी पत्र न लागै, ढरकि चलै जस पारा हो
जैसे सती चढ़ै आगिन पर, प्रेम बचन ना सारा हो
और जरैं औरनि कौ जारे, राखै प्रेम मरजादा हो
भवसागर इक अगम नदी है, अहद अगाह धारा हो
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बिरले उतरा पारा हो
(उपमा)

अपनपों आप ही बिसरो
जैसे सोनहा काँच मँदिर में भरमत मूँकि मरो
जो केहरि वपु निरखि कूपजल प्रतिमा देखि परो
ऐसेहि मदगज फटिक शिला पर दसननि आनि अरो
मरकट मुठी स्वाद ना बिसरै घर घर नरत फिरो
कह कबीर नलनीकें सुनना तोहि कौने पकरो
(उदाहरण)

जोलहा बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर नर मुनि धरें ध्याना
ताना तिनको अहुँवा लीन्हों, चरखा चारिहु बेदा
सर खूटी एक राम नरायन, पूरन प्रगटे कामा
भवसागर एक कठवत कीन्हों तामहँ माँडी साना
माँडी के तन माँडि रहा है, माँडी विरले जाना
चाँद सुरज दुई गोंड़ा कीन्हों, माँझे दीप कियो मांछा
त्रिभुवन नाथ जो माँझन लागे, स्याम मुररिया दीन्हा
(रूपक)

माला फेरत युग गया, फिरा न मनका फेर
कर का मनका छाँड के, मन का मनका फेर
जा घट प्रेम न बसे ता घट जानु मसान
जैसे खाल लुहार का साँस लेत बिनु प्रान

कबीर आध्यात्मिक और नैतिक तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए अत्यन्त सरलता से कोई न कोई उदाहरण दे देते हैं जिसका मूल हमारे प्रतिदिन के परिचित लोक-जीवन में होता है। इसी से उनकी कितनी ही उपमाएँ और रूपक अत्यन्त आकर्षक बन पड़े हैं। परन्तु रूढ़िगत काव्य-तत्त्वों को भी कबीर ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया है, जैसे चातक, चकोर आदि के सम्बन्ध में कवि-मान्यताओं का उन्होंने प्रयोग किया है।

कबीर के काव्य में प्रकृति के चित्र अधिक नहीं मिलेंगे, उनकी तरह उनका काव्य भी धर्म की समस्याओं से छुट्टी नहीं पाता। हम उन्हें प्रकृति का कवि तो नहीं कह सकते, परन्तु दो-चार पदों को पढ़ कर ही यह साफ़ हो जाता है कि कबीर अपने चारों ओर की प्रकृति से अत्यन्त सहृदयता का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

परन्तु कबीर की भाषा में ऐसे भी अनेक तत्त्व हैं जो हमको धक्का देते हैं। उनमें से एक उनका फक्कड़पन है जो कहीं-कहीं अश्लीलता की हद को पहुँच जाता है, जैसे इस साखी में—

जो कामिनि परदै रहै, सुनै न गुरमुख बात
होइ जगत में कूबरी, फिरै उघारै गात

सच तो यह है कि कबीर ने कहने की एक परिपाटी ही चला दी है। पंडित-समाज ने उनका बड़ा विरोध किया। कदाचित् उनकी अज्ञानता और संस्कृत ज्ञान की कमी की खिल्ली उड़ाई गई। कबीर पढ़े-लिखे न थे परन्तु वे चुप हो जाने वाले जीव न थे। उन्होंने बुझौवल कहना शुरू किया और पंडितों से उनका अर्थ बूझा—

तुम बूझहु पंडित कौन नारि
कोइ नाहिं बिआइल रह कुमारि
भेदि सब देवन मिलि हरिहि दीन्ह
तेहि चारहुँ युग हरि संग लीन्ह
यह प्रथमहिं पद्मिनि रूप पाय
है साँपिनि सब जग खेदि खाय
या बर युवती के बार नाह
अति तेज लिया है एनि ताह
कह कबीर सब जग पियारि
यह अपने बलकवे रहै मारि

यह माया का सांकेतिक वर्णन है। इसको न समझने पर पद का अर्थ ही नहीं खुल सकता—पंडित बेचारा शास्त्र के दरवाज़े पर कितनी ही टक्करें मारे। अब पंडितों के चुप रहने की बारी थी। ये बुझौवल विभिन्न छन्दों और अवस्थाओं में मिलते हैं। उलट-बाँसियाँ इसकी अन्यतम अवस्था है। इस प्रकार के बुझौवल की प्रथा सिद्धों और नाथों के साहित्य में भी मिलती है। कबीर ने इसी परम्परा में योग दिया है। इन अस्पष्ट रहस्यात्मक उक्तियों के पीछे ज्ञान को सस्ता होने से बचाने तथा रहस्य और ज्ञान की उच्चता और मर्यादा की रक्षा के भाव भी हैं।

१०

सिद्ध, नाथ और कबीर

सिद्धों, नाथों और कबीर के सिद्धान्तों में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है—सच तो यह है कि निर्गुणवाद की एक स्पष्ट धारा उपनिषदों से इस देश में बहती चली आई है और वह मध्ययुग में कबीर और उनके द्वारा सम्वेदित नाना संत-भक्तों में बहुमुखी होकर प्रगट हुई है। सिद्ध, नाथ और कबीर इस धारा के ही तीन घाट हैं।

इनमें सबसे पहले सिद्ध आते हैं। सिद्ध "महासुक्ख" या "निरवान" के इच्छुक साधक थे। नालन्दा इनका विद्यापीठ था। यह वज्रयानी कहलाते हैं। ये वज्रतत्व के उपासक हैं। ८४ सिद्ध प्रसिद्ध हैं। इनमें सरहपा या सरहपाद सर्वप्रथम थे। सिद्धों की इस परम्परा में गोरखनाथ और उनके गुरु मत्स्येन्द्र (मछेन्द्र) नाथ का भी नाम है। सिद्धों ने जिस धर्म का प्रचार किया उसमें योग की साधना प्रक्रियाओं और बौद्ध तांत्रिक मतवाद का प्रधान था। चित्त की सहजावस्था की प्राप्ति को ही साधक अपना लक्ष्य मानता था। कहते हैं—

चित्र सहज शून-सम्पुन्ना
काँध बिओऐँ मा होहि विसन्ना

इसी तरह सरहपाद का पद है

चीअ थिर करि धरहु रे नाइ
आन उपाये पारण आइ

नौवा ही नौका शनअ गुणे
मेलि मेलि सहजे जाउण आयो

(तू किसी अन्य उपाय से पार नहीं जा सकता। चित्त को स्थिर कर। नाव का गुण पकड़ कर धीरे-धीरे किनारे-किनारे खींचता चल।) सहजावस्था में चित्त का शून्य से सम्मिलन होता था, जो अपार आनन्द का विषय था। इस आनंद को ही "महासुक्ख" (महासुख) कहा गया है। मुसकपाद कहते हैं—

मुसक मनह भइ बूझि अकेले
सहजानन्द महासुख लीहैं

और कण्हवा इस आनन्द का रूपक रूप में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

कान्ह विलरुआ आसव माता
सहज नलिनिबन पइसि निवाता

(कण्ह कहते हैं कि सहज के कमलबन में प्रवेश करके मधुपान करो।) कह चित्त का निरोध और शून्य में उसकी स्थिति योग का भी विषय है। परन्तु योग में जो षट्चक्रों का भेदन है, वह इन सिद्धाचार्यों को स्वीकार नहीं था। यदि हम कबीर के साहित्य को देखें तो वहाँ भी यही परिस्थिति मिलती है। सहज समाधि को कबीर भी प्रधानता देते हैं—

१. सो जोगी जाके सहज भाई
२. आवध राम सबै करम करिहूँ
सहज समाधि न जम कैं डरिहूँ

परन्तु उन्होंने "सहज" शब्द को कहीं साधना की सरल प्रणाली के रूप में लिया है, जैसे—

सहज सहज सबको कहैं, सहज न चीन्हैं कोइ
जिन्ह सहजै हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ

कहीं उससे साधनावस्था का परिचय दिया है, जैसे—

सहजै-सहजै सब गये, सुत वित्त कामणि काम
एकमैक ह्वै मिल रह्या, दासि कबीरा राम

कहीं उसे आचार का साम्यवाची मानते हैं—

सहज-सहज सबको कहैं, सहज न चीन्हैं कोइ
तिन्ह सहजैं विषया तजी सहज कहीजै सोइ

इस प्रकार उन्होंने बौद्ध सिद्धाचार्यों के "सहज" शब्द का अत्यंत व्यापक रूप में साधन की सहज प्रणाली और सहजावस्था के लिए प्रयोग किया है।

शून्य में अवस्थित योगी का अनुभव एकदम अनिर्वचनीय था। उसे प्रगट करने के लिए भाषा की सांकेतिक शक्ति का प्रयोग आवश्यक था। सरहपा इस सहजावस्था के अनुभव का वर्णन यों करते हैं—

जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि नाइ पवेश
तहि पर चित्त विशाम करु षरहें कहिअ उवेश
आद न अन्त न मंझ णउ, णउ भव णउ निब्बाण
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण

इसी शैली को कबीर ने भी ग्रहण किया है—

चाँद नहीं सूरज नहीं, हता ते वो ओंकार
तहाँ कबीर रामजन, को जाने ससार

या

गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना उदय औ' अस्त का नाम नाहीं
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये, प्रेम परकाय के सिंधु माँही
सदा आनंद दुखदंद व्यापै नहीं, पूरनानंद भरपूर देखा
मर्म औ' भ्रांति तहँ नेक पावै नहीं, कहैं कब्बीर ए एक देखा

तुलना करने पर पता लगेगा कि एक ही प्रकार के अनुभव का वर्णन करना लक्ष्य है। इसी शैली ने आगे बढ़ कर संध्या भाषा का रूप पा लिया है। सिद्ध साधक कहता है—

> एकू न किज्जइ मन्त न तन्त। णिअ घरणी लइ केलि करन्त
> णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ। ताव कि पंचवण्ण विहरिज्जइ
> ण जप-होमे मण्डल-कम्मे। अनुदिन अच्छसि काहिउ धम्मे
> तो विणु तरुणि निरन्तर नेहे। बोहि कि लागइ एण दि दोहे

यहाँ "घरणी" का अर्थ "गृहणी" नहीं है, यह स्पष्ट है। यह सांकेतिक शब्द है जो आत्मा का प्रतीक है। इस प्रकार की सांकेतिक भूल-भुलैयाँ का एक बड़ा उदाहरण हम अन्यत्र दे चुके हैं। कबीर की उलटबाँसियों पर इनका प्रभाव स्पष्ट है।

ये सिद्धसाधक स्वय वाह्याचार और भेष-भूषा का विशाल आडम्बर लेकर चलते थे, परन्तु वैसे वे वेद, पुराण, वाह्याचार, जातिभेद आदि के प्रखर विरोधी थे। उनकी साधना चित्तनिरोध की साधना थी जिसमें अतीव आत्मविरक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था। पण्डित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार की विचारधारा के सम्बन्ध में सरोरुहपाद (सरहपा) के दो उद्धरण दिये हैं—

> वह्मणेहि म जाणन्त हि भेउ। एवद पढ़िअउ एच्चउ वेउ
> मट्टी पाणी कुरु लइ पढ़न्त। घरहिं बहसी अग्गि हुणन्त
> कज्जे विरहइ हु अवह होमें। अक्खिऽहाविअ कहुएँ धुम्मे

(ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग, तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा ? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मणत्व है तो चाण्डाल को भी संस्कार देकर क्यों नहीं ब्राह्मण हो जाने देते ? अगर कहो कि ये लोग हाथ में कुस लेकर घर में बैठे हवन करते

हैं। यदि आग में घी डाल देने से मुक्ति होती हो तो क्यों नहीं सबको डालने देते। होम करने से मुक्ति होती हो या नहीं, धुआँ लगने से आँखों को कष्ट जरूर होता है।)

दीह णक्ख जइ महिणों बेसें। णग्गल होइ उपाड़िअ केसें
खवणेहि जाण बिडंबिअ बेसे। अप्पण बाहिअ मोक्ख उदेसें
जइ णग्गा पिअ होइ मुक्ति ता सुणह सिआलह
लोमुप्पाडणें अत्थिसिद्धि ता जुभइ विअम्बह
पिच्छी-गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चारह
उञ्छे भोअणें होइ जाणता कटिह तुरंगह

(ये लोग कपट-माया फैला कर लोगों को ठगा करते हैं। तत्त्व तो ये जानते ही नहीं। मलिन वेश धारण किये फिरते हैं और शरीर को व्यर्थ ही कष्ट देते हैं। नंगे घूमते हैं और केश उखड़वा देते हैं। यदि नग्न दिगम्बर को मुक्ति मिलती हो तो स्यार-कुत्तों की मुक्ति पहले होनी चाहिये। यदि लोमोत्पाटन से मुक्ति होती हो तो ऐसे बहुतों की मुक्ति हो जानी चाहिये जिन्हें लोभ है ही नहीं। यदि पिच्छी ग्रहण करने से मुक्ति होती हो तो मयूर इसका प्रथम अधिकारी है। यदि उञ्छ-भोजन से मुक्ति होती हो तो हाथी घोड़ों की मुक्ति पहले होनी चाहिए)

कबीर भी इसी स्वर में बोलते हैं—

पंडित देखहु मनमँह जानी
कहुँ धौं छूति कहाँ ते उपजीत बहिं छूति तुम मानी
बादे बंदे रुधिर के संगे घट ही मँह घट रुपचै
अस्ट कँवल होय पुहुमी आया छूति कहाँ तें उपजै
लख चौरासी नाना बासन सो सम सरिभौ माटी
एकै पाट सकल बैठाये छूति लेत धौं काकी
छूतहिं जेवन छूतहिं अँचवन छूतहिं जगत उपाया
कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित जाके सम न माया

वे भी सिद्धों की तरह लोकाचारों के प्रति शंका उठाते हैं—

> ताथैं कहिये लोकाचार। वेद कतेब कथैं ब्यौहार
> जारि बारि करि आवै देहा। मूँवाँ पीछै प्रीति सनेहा
> जीवत पित्रहि मारहि डंगा। मूँवाँ पित्रले घालैं गंगा
> जीवित पित्र कूँ अन न खवावै। मूँवाँ पाछैं प्यंड भरावै
> जीवित पित्र कूँ बोलैं अपराध। मूँवाँ पीछैं देहि सराध
> कहि कबीर मोहि अचिरज आवै। कउवा खाइ पित्र क्यूँ पावै
>
> (क० ग्रं० पद ३५६)

बौद्ध सिद्धों का शून्यवाद भी बहुत कुछ उसी तरह कबीर को मान्य है। शून्यवाद बौद्ध महायान संप्रदाय की वह दार्शनिक शाखा है जो कहती है कि संसार में सब कुछ शून्य है, किसी की भी कोई सत्ता नहीं। दूसरी शाखा विज्ञानवाद का कहना है कि जगत के सारे पदार्थ असत्य हैं, परन्तु चित् के निकट फिर भी सत्य है। यह सत्य-असत्य आपेक्षिक बात है। नागार्जुन शून्यवादी हैं परन्तु उन्होंने बीच का मार्ग पकड़ कर "अनिर्वचनीयवाद" की स्थापना की। माध्यमिक शास्त्र (मञ्ज्यों सं० ११७१) में नागार्जुन ने बताया है कि तत्त्व जैसा है वैसा उसका वर्णन करना असम्भव है। वह शून्य है। शून्य ही से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और शून्य में ही वे लीन हो जाते हैं। इस शून्य रूप अनिर्वचनीय सत्ता की अनुभूति होने के कारण ही बुद्ध तथागत है। दृश्य पदार्थ भी शून्य ही हैं। शरीर भी शून्य ही है। शून्य को हम सत् कह सकते हैं, न असत्। सत् और असत् दोनों भ्रम हैं। सापेक्ष गुणों के धीरे-धीरे निराकरण से प्रज्ञा प्राप्त होती है। इसे "शून्याशून्य" भी कह सकते हैं। यहाँ शून्य का वही स्थान है जो कबीर के निर्गुण का, जो निर्गुण भी नहीं है सगुण भी नहीं है। सहजयानी सहज शब्द को शून्य के साम्यवाची अर्थ में प्रयोग में लाते हैं। नाथों और कबीर में शून्य, सुन्न,

सहज, सहजानंद आदि एक ही तरह मिलते हैं। सहजावस्था की प्राप्ति को ही बौद्ध सिद्धों ने "महासुक्ख" कहा है और मदपान से उसके आनन्द की कल्पना की है। कबीर भी कहते हैं—

एरे कलाली भर दे प्याला
मेरा मनवाँ हो मतवाला

जैसा ऊपर से स्पष्ट है सिद्धसंत अनात्मवादी थे। वह पिंड में ब्रह्मांड के होने की बात कहते हैं। बुद्ध का नाम भी लेते हैं परन्तु यहाँ बुद्ध शून्यतत्त्व से अभिन्न है, जैसे

पन्डितअ सअल सत्थ वक्खाणइ
देहहि बुद्ध वसन्त न जाणइ

बाद में शंकर ने इस "शून्यवाद का विरोध किया और निर्गुण ब्रह्म की स्थापना की। इससे इस शून्यवाद ने योगियों और संतों में आत्मवाद का चोला पहर लिया परंतु शिव और राम के नाममात्र के पीछे "सून्न" की भावना पूरी तरह छिप नहीं सकी। गोरखनाथ कहते हैं—

वस्ती न शून्यं शून्यं न वस्ती
अगम अगोचर ऐसा

इसमें गोरखनाथ ने उस आत्मतत्त्व में शून्यत्व का विरोध अवश्य किया है परंतु यह एक प्रकार का अनिर्वचनीय शून्यत्व हो गया। नाथ-संतों ने शून्य को ब्रह्मरंध्र और भँवरगुफा कहा। डा० बड़थ्वाल नागार्जुन के सम्बंध में लिखते हुए कहते हैं (ना० प्र० पत्रिका भाग ४, अंक ४)—

"तत्त्व को आस्ति और नास्ति, सत् और असत् से बाहर बतलाना वस्तुतः नागार्जुन की शैली का अनुसरण करना है। निर्गुण कवियों पर यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। कबीर कहते हैं—

सोई यै जाने पीर हमारी, जिन्ह सरीर यह ब्यौरी
जन कबीर ठग ठग्यो है वपुरो सुन्न समानी त्योरी

और दादू ने कहा है—

सहज सुन्नि एक ठौर है
सब घट सबहीं माँहि
वहाँ निरंजन रमि रहा
कोइ गुण व्यापै नाँहि

कबीर और दादू के इस सर्वव्यापी शून्य में नागार्जुनीयता विद्यमान है, यह उनके निम्नलिखित उद्धरणों से सिद्ध होता है—

कबीर

जहाँ नहीं तहाँ कुछ जाणि
जहाँ नहीं तहँ लेहु पछाणि
नाहीं देखि न जइए भागि
जहाँ नाहि तहँ रहिये लागि

दादू

नाहीं तहाँ तैं सब किया फिर नाहीं है जाइ
दादू नाहीं होइ रहु साहिब सों ल्यौ लाइ

वस्तुतः नागार्जुन से आती हुई दार्शनिक परंपरा हिन्दी में अपने शुद्ध रूप में भी दिखाई देती है।"

सिद्ध कवि ७५० वि० सं० में वर्तमान थे और उनकी परंपरा सं० १२०० तक चली, परंतु इस बीच में ही कुछ सिद्धों पर शिवाद्वैत का प्रभाव पड़ चुका था। वे शिव-शक्ति के उपासक हो गये और उन्होंने सिद्धों के संप्रदाय से अलग होकर नाथपंथ चलाया। कदाचित् मत्स्येन्द्र या गोरख प्रवर्तक थे। बात यह थी कि सिद्धों की सांकेतिक भाषा ने अनाचार की वृद्धि में सहायता दी थी और इससे सिद्धपंथ कलुषित हो गया था। "पंच मकारों"

(मीन, मदिरा, मैथुन, मानिक, मांस) का सेवन चल पड़ा था। सिद्धों का अर्थ था कि सिद्धावस्था (या सहजावस्था) प्राप्त योग पाँचों इंद्रियों का वर्हिगमन रोक कर (उनको मार कर) फिर उनका सेवन कर सकता है। इस अनाचार को वृद्धि के साथ "गुह्य" तंत्रों की स्थापना हुई। "धरणी" का अर्थ साधना की तीन अवस्थायें जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं—अवधूती, चांडाली, जेम्बी (बङ्गाली)। उत्तर सिद्धपंथ में संकेत को भुला दिया गया और अवधूती, चांडाली और जेम्बी से शरीर-सम्बन्ध स्थापित करने को ही योग समझ लिया गया। गोरखनाथ ने इन शब्दों के फिर नये अर्थ किये और नये सम्प्रदाय में आचार-विचारों और ब्रह्मचर्य की महत्ता की पूरी-पूरी स्थापना की। उन्होंने साधना के लिए हठयोग को स्वीकार किया, चक्रभेद की फिर प्रतिष्ठा की, कुण्डलिनी जाग्रत करने को योग (दिव्य मिलन) की प्रथम सीढ़ी बताया। उन्होंने आत्मवाद को माना। शिव और शक्ति ही तत्त्व है। कुण्डलिनी (शक्ति) शिव (सहस्रार, शून्य) से मिल कर अद्भुत आनन्द का विस्फोट करती है। अनेक साम्यों के कारण हम यह कह सकते हैं कि नाथपन्थ चोरासी सिद्धों के पंथ का ही परिष्कृत रूप है। विद्वानों का मत भी यही है। पं० राहुल सांकृत्यायन कहते हैं—

"नाथपंथ चोरासी सिद्धों से निकला है। गोरख-सिद्धांत-संग्रह में 'चतुरशीति सिद्ध' शब्द के साथ चोरासी सिद्धों में से आदि-नाथ (जालन्धर) तथा अन्य छः सिद्धों के नाम मिलते हैं।"

सिद्धों का समय सं० १००० से १४०० तक माना जाता है। कबीर के समय इस पंथ में अवनति के लक्षण स्पष्ट हो गये थे। बाद में धीरे-धीरे निर्गुण संतमतों में ही इसके अनुयायी स्थान पा गये।

नाथपंथ में हठयोग की प्रधानता थी। कबीर पर कम-से-कम

प्रारंभिक दिनों में इस हठयोग का पूरा प्रभाव था स्पष्ट है। बाद में उन्होंने केवल धारणा, ध्यान, समाधि आदि को स्वीकार किया और चक्रभेदन की ओर से दृष्टि हटा ली, परन्तु उन्होंने कितने ही पदों में कितनी ही बार कुण्डलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि के सहारे नाद (अनहद) सुनने की रीति बताई है और श्वास-निरोध एवं चक्रभेद का अनुभूतिपूर्ण उत्साहमय वर्णन किया है। यही नहीं, उनके पदों में हठयोग के सारे सांकेतिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे उनकी वाणी साधारण जनता के लिए रहस्यमयी हो गई। हठयोग की साधना-प्रक्रियायें ही इन पदों की कुंजी हैं। यदि हम नाथपंथ और कबीर के सिद्धांतों की तुलना करें तो बहुत कुछ साम्य मिलेगा—

(१) योगी शिवाद्वैत को और आगे बढ़ा कर चिन्मय सत्ता के "द्वैताद्वैत विकल्पना" (द्वैताद्वैत विलक्षण) कहते हैं। कबीर ने भी कहा है कि एक कहता हूँ तो झूठ है, दो कहता हूँ तो पाप है। वह तत्त्व जैसा है, वैसा रहे।

(२) इस द्वैताद्वैत से परे की सत्ता को "नकारात्मक" परिभाषा में ही बताया जा सकता है। योगी कहता है—

न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपति सुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निनापि वामुनं च गगनतलं नौ दिशो नैव कालः।
नौ वेदा नैवसंज्ञा न च रविशशिनौ नौ विधिर्नैव कल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते ॥

(सिद्धसिद्धान्त-पद्धति)

इसे ही कबीर यों कहते हैं—

राम निरंजन न्यारा रे अञ्जन सकल पसारा रे
अञ्जन उत्पति ओ ओंकर, अञ्जन माँड्या सब विस्तार
अञ्जन ब्रह्म-संकर-इंद्र, अञ्जन गोपी सँगि गोविंद
अञ्जन वाणी अञ्जन वेद, अञ्जन कीया नाना भेद

अञ्जन विद्या-पाठ पुराण, अञ्जन फोकट कथहिं गियान
अञ्जन पानी अञ्जन देव, अञ्जन की करै अञ्जन सेव
अञ्जन नाचै अञ्जन गावै, अञ्जन भेष अनन्त दिखावै
अञ्जन कहों कहाँ लग केता, दान-पुनि तप तीरथ जेता
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अञ्जन छाँडि निरंजन लागै

(३) दोनों अनुभूति को प्रधानता देते हैं, शास्त्रज्ञान को महत्त्वहीन बताते हैं।

(४) दोनों आश्रम और वर्णव्यवस्था के कायल नहीं हैं। दोनों स्मार्त आचार-विचारों के विरोधी हैं। दोनों पौराणिक देवताओं और अवतारों में विश्वास नहीं करते—उनकी हँसी उड़ाते हैं।

(५) दोनों परमनाद या परमबिंदु से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। पट्चक्र और उनके द्वारा "अनहद नाद" की साधना दोनों में है।

परन्तु दोनों में जो भेद हैं, उन्हें भी समझ लेना बुरा नहीं है। ये भेद भी महत्त्वपूर्ण हैं।

(१) अवधूत (योगी) का लक्ष्य मुक्ति है, साधना है चक्रभेद या हठयोग। कबीर का लक्ष्य भी मुक्ति है परन्तु उसमें जीवात्मा के अस्तित्व का एकदम नाश नहीं हो जाता, वह साक्षी-भूत रहता है। रामानन्द से प्रभावित होने के बाद कबीर ने भक्ति को ही साधनरूप में प्रधानता दी है। योगमत में इस प्रकार की भक्ति के चिन्ह भी नहीं हैं।

(२) हठयोग में आसनों, मुद्राओं आदि की बड़ी महत्ता है, परन्तु कबीर ने इन्हें अस्वीकार किया है। वह गौण के पीछे पड़ना नहीं चाहते।

(३) योगी गार्हस्थ्यवर्जन और कायत्याग पर बल देते हैं। यद्यपि दूसरी बात कबीर को ग्राह्य है, परन्तु इस हद तक नहीं। पहली बात को तो वे जरा भी नहीं मानते।

इसके अतिरिक्त कबीर ने (या उनके बाद कबीरपंथ ने) चक्रों की संख्या में भी वृद्धि की है और उनके आधार पर नवीन-नवीन लोकों की प्रतिष्ठा की है। इस प्रकार अध्यात्म-साधना को और भी विशद बनाया गया है। परन्तु यह सब कदाचित् कबीर के बाद का विकास है जिसके लिए कबीर को जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि कबीर केवल मात्र योग-परंपरा के पोषक थे। उन्होंने इस साधना को अत्यन्त निकट से देखा था, स्वयं परखा था। इसके प्रमाण अनेक हैं। वे कहते हैं—

खेल ब्रह्माण्ड का पिंड में देखिया मर्यादा दूरि भागी
बाहरा-भीतरा एक आकासवत सुषुमना डोरि तहँ उलटि लागी
पवन को उलटि करि सुन्न में घर किया धरिया में अधर भरपूर देखा
कहै कब्बीर गुरुपूर की मेहर सों तिखुटी मद्ध दीदार पेखा

(शब्द० पृ० १०५)

वास्तव में कबीर के मौलिक मतवाद को समझने के लिए सिद्धों और नाथों के सारे धार्मिक रहस्यों और स्वयं कबीर की प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक है परन्तु यह कठिन कार्य है। एक ही पारिभाषिक शब्द ने तीनों में नवीन अर्थों का प्रकाश पाया है। अर्थ की धारा कहीं संकुचित हुई है, कहीं स्फीयमान। इस नये रूप को पूर्णतः ग्रहण किये हम कबीर के सिद्धान्तों के प्रति न्याय नहीं कर सकते। फिर यह भी समझ लेना कि कबीर की अनुभूति में सिद्धों, नाथों, सूफियों और भक्तों की भावधारायें एक हो जाती हैं और विलक्षण रूप धारण कर लेती हैं। परम्परागत प्रतीकों से जब इस सर्वग्रासी और सर्वग्राही अनुभूति का प्रकाशन होता है तो हम उसे पूरा-पूरा पकड़ ही कब सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धों और नाथों की विचार-धारा और साधना का बहुत कुछ अंश कबीर की दाय-सम्पत्ति बन गया

है। परंपरागत इस निर्गुण भावना में कबीर ने भक्ति (प्रेम) का मिश्रण कर दिया और इस प्रकार वह शून्यवादियों और सगुण भक्तों के बीच में स्थान पाते हैं। साथ ही उन्होंने कठिन तप, इंद्रियदमन और योगसाधना में अनुभूतिमूलक विरह-मिलन-प्रधान भक्तियोग का समावेश कर उस साधना को "सहज" का रूप दे दिया है। यह सब होते हुए भी, कबीर के व्यक्तित्व की विशिष्टता उनके मतवाद और उनकी साधना को भी विशेष व्यक्तित्व प्रदान ने किया है। संक्षेप में, परंपरा से चले आते हुए योगियों और सहजयानियों और निर्गुण संतों के मतवाद और साधना ने कबीर के व्यक्तित्व से छन कर उनके युग के अनुरूप एक नव्य ही रूप ग्रहण किया है। इसीलिए कबीर युगातीत होते हुए भी युग-पुरुष हैं।

११

निर्गुण पंथ का इतिहास

निर्गुण पंथ में भिन्न-भिन्न धार्मिक संप्रदायों, धर्म-ग्रंथों, दर्शन-शास्त्रों और रहस्यवादी संस्थाओं की बातें मिलती हैं। उसमें बुद्धमत के शून्य और निव्बान का भी स्थान है, वैष्णवमत की भक्ति भी है, वेदांत का अद्वैत है और गोरखनाथ का तंत्रवाद भी है। संतों की वाणियों में योग संबंधी जो विचार लिये गये हैं, वे पतंजलि और कपिल के योगसूत्रों से नहीं, वरन् प्रचलित नाथ-संप्रदाय से लिये गये हैं जिसमें इस प्राचीन योग-प्रणालियों का बौद्ध तंत्रवाद से अद्‌भुत मिश्रण हो गया था इसीलिये निर्गुण संतों के योग को समझने के लिए योग के बिगड़े रूप (नाथ-संप्रदाय की क्रियाओं) को समझना आवश्यक है। इसी प्रकार बौद्धमत का जो है, वह सिद्धों और गोरखनाथ के माध्यम से यहाँ प्राप्त हुआ है। सभी कुछ बिगड़े-सुधरे रूप में यहाँ मौजूद है।

हम उसे इन सबका बिगड़ा रूप कहें, परन्तु एक दूसरा दृष्टि-कोण भी हो सकता है। स्वयं संतों का यही दृष्टिकोण था—यह कि उसमें प्राचीन भक्तों, धर्मों और संप्रदायों का सार ले लिया गया है। इसके लिये संतों ने विशेष परिश्रम नहीं किया। समय का प्रवाह ही ऐसा था और परिस्थितियाँ इस तरह काम कर रही थीं कि यह अनायास ही हो गया।

हम यह भी कह सकते हैं कि एक प्रकार से इन संतों ने मध्य-मार्ग का प्रचार किया। यह मध्य-मार्ग की परम्परा गीता, बौद्ध-

मत, महायान, योगाचार और नाथसंप्रदाय से होकर निर्गुण पंथ तक आई। भारतीय मस्तिष्क की एक विशेषता यह है कि वह विद्रोह और आमूल परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। उसमें मध्य-मार्ग से संतुष्ट हो जाने की प्रवृत्ति है। संतों ने ऐसा ही मार्ग जनता को दिया।

भिन्न-भिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और दर्शनों की धाराएँ निर्गुण पंथ के रूप में एक हो गईं—यह हम कह चुके हैं। यह प्राकृतिक प्रक्रिया थी। एकांतिक धर्म के विकास से लेकर रामानन्द के आविर्भाव तक यह मिश्रण होता रहा। एकांतिक धर्म में उपनिषदों के सिद्धांतों का समावेश तो पहले ही हो गया था, फिर श्रीमद्-भागवत में हमें ईश्वरवाद के दर्शन होते हैं और अद्वैतवाद की पुष्टि होती है। शङ्कराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य करते हुए ईश्वरवाद को अधिक मान नहीं दिया, इसी से उन्हें प्रच्छन्न बुद्ध कहा गया। परन्तु वैष्णव धर्म की आत्मा मर नहीं गई थी और शङ्कर के मत के विरुद्ध अन्य दार्शनिक मत (विशिष्टा-द्वैत, भेदाभेद, द्वैत आदि) उठ खड़े हुए। यह सब होने पर भी शङ्कराचार्य का प्रभाव बना रहा। १२वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में मुकुन्दराज ने 'विवेक सागर' ग्रंथ की रचना की और १२४० ई० में ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' (भगवद्गीता की टीका) लिखी। दोनों पर वेदांत का प्रभाव है। उत्तरी हिन्दुस्तान में रामानन्द के द्वारा विशिष्टाद्वैत और अद्वैत का मिश्रण हुआ। जान पड़ता है, उन्होंने शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद में वैष्णव-भक्ति को मिला लिया।

प्राचीन योग और बौद्धमत के संयोग से योगाचार-तंत्रवाद चला। इस तंत्रवाद पर शृङ्गार की छाया पड़ने पर वज्रयान और सिद्ध संप्रदाय की सृष्टि हो गई। कुछ सिद्धों ने इस शृङ्गार-भाव का विरोध किया। उनसे नाथ-संप्रदाय की नींव पड़ी।

वैष्णव धर्म में योग का अपना स्थान था। उसमें योग के नये प्रकार की पहुँच हो गई। राघवानंद प्रसिद्ध योगी थे, अद्वैतवादी तो वे थे ही। इन्हीं से रामानंद ने विशिष्टाद्वैतवाद और योग की शिक्षा ली। इससे रामानंद में वैष्णव, वेदांत और योग की तीन धाराओं का मिलाप हो गया। कबीर ने इसको पैतृक सम्पत्ति के रूप में पाया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि निर्गुण पंथ का रूप रामानंद के समय में ही उनके द्वारा स्थिर हो चुका था। कबीर ने उसमें मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विरोध जोड दिया। भक्ति में स्त्री-पुरुष के सांसारिक प्रेम के प्रतीक का आरोप भी उन्होंने ही किया। यह दोनों बातें उन्हें मुसलमानों से मिलीं अथवा उनके कारण उत्तेजना को प्राप्त हुईं।

इस प्रकार मिश्रित होने पर भी वैष्णव धर्म की भक्तिभावना निर्गुण पंथ का मेरुदंड होने के कारण हम उसे वैष्णव धर्म का नया रूप कह सकते हैं। इससे हमारा अर्थ यही होगा कि उस के मूल में वैष्णव-भावनाओं का समावेश अधिक है। वैष्णव लोगों का शाक्तों के प्रति चिढ़ इस पंथ का एक अंग बन गई। कबीर और अन्य संतों ने स्थान-स्थान पर वैष्णवों की प्रशंसा भी की है। तब क्या कबीर वैष्णव थे? थे, केवल वे उनके कर्म कांड और मूर्तिपूजा के संबंध में मतभेद रखते थे। वे विष्णु और उनके अवतारों को भी नहीं मानते थे। इसलिए वैष्णवों के प्रति उनका प्रेम होने पर भी हम उन्हें वैष्णव नहीं कह सकते। निर्गुण पंथ संतों के सामने एक विशेष संप्रदाय के रूप में खड़ा नहीं हुआ। कबीर स्वयं भक्तों और सम्प्रदायों के विरोधी थे। स्वयम् हिन्दू धर्म और मुसलमान धर्म में विभिन्न संप्रदाय थे जो एक दूसरे का विरोध करते थे। उन्होंने नया पंथ चलाने का प्रयत्न नहीं किया। उनका मत था कि—

विधना के मारग है तेते
सरग नखत तन रोवाँ जेते

(जायसी)

उन्होंने तो प्रत्येक धर्म का सार ग्रहण किया था और कोई भी उसे ग्रहण कर सकता था। उसे अपना मत छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि कबीर प्रचलित मतों में सुधार चाहते थे, नया धर्म चलाना उन्हें वांछनीय नहीं था। और निर्गुण की भावना के साथ पंथ की भावना चलती भी नहीं। पंथ की विशेषता कर्मकांड है। धार्मिक असहिष्णुता का यह कारण है कि मनुष्य केन्द्र को छोड़ कर बाहर के आचार-विचार को प्रधानता दे देता है और फिर इन बाह्योपचारों में असमानता देख कर तत्त्व न समझते हुए, दूसरे से अपने विचार को मनवाना चाहता है। प्रत्येक धर्म-सुधारक की चेष्टा गौण को छोड़ कर प्रधान की ओर होती है। बाहरी कर्मकांड तो प्रतीकमात्र है जिसके सहारे ऊँचे तत्त्वों (धर्म के ऊँचे स्तरों) तक पहुँचना होता है। सुधारक प्रतीक के पीछे सत्य की प्रतिष्ठा करता है और समय के अनुसार उसी एक सत्य के लिए नये प्रतीक गढ़ लेता है। यहाँ उसका कार्य समाप्त हो जाता है।

परन्तु यही प्रतीक और वाह्याचार मनुष्यों को सम्प्रदायों में बाँधने के लिए आवश्यक हैं। कबीरपंथ (अथवा निर्गुण पंथ) में इतनी सत्ता ही नहीं मानी जाती। उसने न उपासना की व्यवस्था की न कर्मकांड की। वह तो सत्य को मानता है। जहाँ भी हो वहाँ से उसको ग्रहण करना चाहिये। यदि इस सारग्रहण की भावना को धर्म की भावना माना जाय तो अवश्य ही वह पंथ है।

निर्गुण पंथ से हमारा अर्थ मौलिक कबीरपंथ का है—उस भावना का, जिसने कबीर को अपने मत के प्रचार के लिए बाध्य

किया। कबीरपंथ, दादूपंथ, नानकपंथ, जग्गूपंथ, (जग्गूदास), सत्नामी पंथ (जगजीवनदास), दरियापंथ (मारवाड़ के दरिया), साहिब-पंथ (हाथरस वाले तुलसी) राधास्वामी-पंथ हैं। परंतु निर्गुण पंथ को यदि पंथ कहा जाय तो वह इनसे भिन्न है। यहाँ पंथ शब्द को हमें बड़े विस्तृत रूप में लेना होगा। कबीर ने जिस निर्गुण मत का प्रचार किया उसकी आत्मा से वे इतने ही दूर हैं जितने वे धर्म से जिनका कबीर ने विरोध किया था। स्वयं कबीर पंथ में कबीर को "साहब" का स्थान दे दिया गया है। चौका की उपासना-प्रथा वैष्णवों की षोड़शोपचार-पूजा का ही दूसरा रूप है। प्रत्येक पंथ के गुरु में ईश्वरत्व का आरोप कर लिया गया है, कुछ कर्मकांड बना लिये गये हैं, अन्य धर्मों की उपासना-पद्धति और अनेक प्रथाओं को अपना लिया गया है।

मध्य युग में तीन धार्मिक धाराएँ बहुत कुछ समानांतर चल रही थीं। एक तो गोरखनाथ का नाथ-पंथ, दूसरे निर्गुण और सगुण भक्ति-सम्प्रदाय, तीसरे सूफीमत। इस समस्त विस्तृत काल में यह उपधाराएँ बराबर अलग नहीं रहीं, बराबर मुड़ कर मिलतीं और फिर अलग होकर बहती रहीं। निर्गुण धारा में तो एक प्रकार से अन्य धाराओं का इतना जल मिल गया है कि लोग उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व पर ही शंका करने लगे हैं।

इन धार्मिक धाराओं ने अपने समय की आवश्यकताओं को सफलता-पूर्वक पूरा किया। यह समय विदेशी संघर्ष का समय था। यद्यपि १२०० ई० के बाद पश्चिम से आक्रमण रुक गये और मुसलमान भारत ही में बस गये जिसके कारण राजनैतिक संघर्ष कम हो गया। (एक प्रकार से रहा ही नहीं) परंतु दो विभिन्न विरोधी साम्यताओं का संघर्ष अभी भी चल रहा था। यह राजनैतिक संघर्ष से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। हिन्दुओं को

अस्तित्व बनाये रखना कठिन हो रहा था। राजनीतिक शक्ति तो उनसे छिन ही गई थी, परन्तु संभव था कि उनका धर्म, उनके समाज-संगठन, उनके आचार-विचार पर मुसलमानी धर्म की इतनी छाप पड़ जाती कि उनका रूप ही बदल जाता। यह समय हिंदी भक्त-कवियों के प्रादुर्भाव का था। उन्हीं की चेष्टाओं के कारण इस्लाम और हिंदू धर्म के इस संघर्ष में हिन्दू धर्म की मौलिकता बनी रही। एक ओर तो मुसलमानों को हिन्दू धर्म और हिन्दू जीवन के सुन्दर चित्र देकर हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु बनाया, दूसरी ओर यही काम निर्गुण कवियों ने हिन्दू-मुसलमानों के मन को एक-सा बहुत बातों पर जोर देकर किया। उन्होंने मूर्तिपूजा की निंदा की। इस्लामी "बुतशकन" (मूर्तिखंडन) होना श्रेय समझते थे। निर्गुणियों ने बुतों (मूर्तियों) की असमर्थता चिल्ला-चिल्ला कर कही। जब वे आप बुतशकन थे तो मुसलमान उनका विरोध कैसे करते। उन्हें स्वयं हथियार उठाने की आवश्यकता नहीं रह गई। सगुण भक्ति कवियों ने हिन्दू संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर जोर दिया। उनका काम विधेयात्मक था। उन्होंने हीनता की भावना को हिन्दू-समाज से निकाल दिया। राम-रावण युद्ध में राम की आसुरी शक्ति पर विजय दिखा कर तुलसीदास ने मानों म्लेच्छ कर्म पर हिन्दू धर्म की संभाव्य विजय की ओर इङ्गित किया। यह तो मानना ही होगा कि राम-चरितमानस के पीछे इसलाम से ही मोरचा लेने का मनोविज्ञान काम कर रहा है। इस एक पुस्तक ने हिन्दुओं को हिन्दुत्व की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध कर दिया। भावी राम-विजय के चित्र जनता की आँखों के आगे फिरने लगे।

इस्लाम की दो विशेषताएँ थीं : (१) वह कट्टर ऐकेश्वरवादी था (ला इलाही लिल्लाह, मुहम्मद रसूलल्लाह: ईश्वर एक है, मुहम्मद उसका प्रतिनिधि है) (२) इस्लाम में भ्रातृत्व की प्रधानता थी। यह

बात नहीं कि हिन्दूमत के लिए ये बातें नई थीं। शंकराचार्य ने नवीं शताब्दी में अद्वैतवाद का प्रचार किया था। दक्षिण के शैवों और अलवारों ने आठवीं शताब्दी में ही ईश्वर में पितृत्व की आरोपना की थी, एवम् वर्णभेद और अस्पश्यता का विरोध किया। परन्तु उत्तरी भारत में आचार्यों के प्रयत्नों ने शंकराचार्य के कार्य को समाप्त कर दिया। उन्होंने शंकर के मौलिक अद्वैत में रूपान्तर उपस्थित किये और स्पर्श्य-अस्पर्श्य की रूढ़ियों को और भी दृढ़ बना दिया। शैवों और अलवारों के काम से उत्तरी भारत परिचित नहीं था और दक्षिण में उनका स्थान पुराण-प्रेमी भक्त आचार्यों ने ले लिया था। इस परिस्थिति में हिंदी प्रदेश के निवासियों को इस्लाम के सिद्धान्त नये न होकर भी नये लगे।

निर्गुणी संतों ने इस्लाम के प्रभाव का सामना किया। उन्होंने ऐकेश्वरवाद का ही समथन नहीं किया, वे और आगे बढ़ गये। ईश्वर एक है परन्तु उसे एक कहने से उसके सीमित अस्तित्व और द्वैतहीन होने का विचार हो आता है। हम अपने विशेषणों से उसे बतला ही नहीं सकते। वह नहीं भी नहीं है, एक भी नहीं है। वह सब संज्ञाओं और सब विशेषताओं के परे है। कबीर के कल्पना का साहब (ईश्वर) किसी भी ऐकेश्वरवादी के ईश्वर के आगे की चीज़ है। यह अवश्य है कि आगे के संतों ने यह ऊँची उड़ान लेने में असमर्थता दिखाई। इस एकदेववाद के समर्थन के लिए मूर्तिपूजा का विरोध आवश्यक था। निर्गुण संतों ने इसका विरोध किया। साथ ही अवतार का भी।

परन्तु एक तरह इस्लाम धर्म में वे सब बातें मौजूद हैं जिनके लिए उन्होंने हिन्दुओं को कष्ट दिया। अवतारवाद के वे द्रोही हैं, परन्तु स्वयं मुहम्मद साहब ईश्वर के बेटे, उनके नूर से पैदा हुए, उनके स्वरूप माने जाते हैं। खलीफा की संस्था में भी अवतारवाद जैसी कुछ भावना छिपी है। मूर्तिपूजा वे नहीं करते। परन्तु काबे

का पत्थर वे चूमते हैं। तीर्थयात्रा नहीं करते परन्तु हज करने वाले हाजी की प्रतिष्ठा करते हैं।

फिर भी मुसलमानों के आने से एक बात जरूर हुई। भारत में धर्मभावना नीचे वर्ग तक कभी नहीं पहुँची थी। वह ऊँचे वर्गों की चीज़ थी। पहले वैदिक काल में ब्राह्मण ही वेदविद्या का अधिकारी था। फिर उपनिषद्-काल में कितने संपर्कों के बाद जब क्षत्रियों ने ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर लिया तो ब्राह्मणों को उनका शिष्य होना पड़ा। परन्तु बाद में धर्म का सम्बन्ध ब्राह्मणों से ही अधिक रहा। वे ही उसके रक्षक-पोषक थे। अब पहली बार निम्न कौम ने अपने अधिकारों के लिए झंडा खड़ा किया। राजनैतिक अधिकार तो हिंदुओं के पास थे ही नहीं। धार्मिक क्षेत्र में एक विप्लव उठ खड़ा हुआ। विजेताओं के भ्रातृभाव ने उसे उत्तेजना दी।

इस्लाम के साथ हिन्दुत्व का संघर्ष हुआ तो हिन्दुत्व की कमजोरियाँ अच्छी तरह प्रकाश में आ गईं। वर्णव्यवस्था का उद्देश्य और उसकी प्रारम्भिक अवस्था जैसी भी रही हो, अब वह स्वस्थ नहीं रह गई थी। उच्च जाति के हिन्दुओं (सवर्णों) ने इसे समझा। अन्त्यजों ने इसे अपने अधिकारों का मेरुदंड बना लिया। शायद इस समय के सुधारों का एक कारण निम्न जाति के हिन्दुओं का इस्लाम की ओर आकर्षण और धर्म-परिवर्तन भी हो जिन्हें रोकने के लिए इस प्रकार की व्यवस्था की गई हो। परन्तु यह भावना अधिक नहीं पनपी। हरिभक्त अन्त्यजों को किसी हद तक सवर्ण भी मानते थे परन्तु अन्य अन्त्यजों की अवस्था के प्रति उन्हें अधिक सहानुभूति नहीं थी। उनके लिए कर्म-सिद्धान्त लागू होता था। वे सवर्ण नहीं हैं, यह तो पिछले जन्म के पाप का फल है। उनकी सहायता करना कर्मचक्र को रोकना है, अतः अधर्म है। कुछ भी हो—"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी"

वाले दोहे से उस समय की अन्त्यजों की स्थिति समझ में आ जाती है।

यही नहीं, निर्गुणी शूद्र (अवर्ण) संतों के सम्प्रदाय में आज भी हम सवर्ण बहुत कम पाते हैं। इससे जान पड़ता है कि यद्यपि निर्गुण संतों ने सवर्णों की धर्मभावना को परोक्ष रूप से ही उत्तेजित किया। उनके साथ उनका सीधा-संबंध नहीं है और वे समाज के निम्न भागों से उठे और उन्हीं की चीज़ हो गई।

निर्गुण पंथ में सवर्णों ने प्रवेश क्यों नहीं किया, इसके कई कारण हैं। परन्तु यदि सवर्णों का प्रवेश हो गया होता तो समाज और साहित्य का दूसरा ही रूप हमें मिलता।

संक्षेप में, मध्य युग को हम समन्वय का युग कह सकते हैं। धर्म के क्षेत्र में समन्वय की भावना प्रधान थी। कबीर से बहुत पहले इसका जन्म हो चुका था। नाथ-संप्रदाय के गोरखनाथ के एक शिष्य के "काफ़िरबोध" और "अवलि सलूक" इसके प्रमाण हैं। कबीर और उनके समय के अथवा बाद के निर्गुणी संतों ने इस दिशा में श्रेयस्कर काम किया।

निर्गुण धारा के प्रथम दर्शन नामदेव की रचनाओं में होते हैं, जिनका जन्म-समय प्रायः सं० १३२७ है। यह पंढरपुर के विठोवा (विष्णु) के भक्त थे। परन्तु उस वैष्णव भक्ति के साथ-साथ वे निर्गुणियों के प्रिय 'नाम' को भी अद्वितीय स्थान देते हैं। जहाँ उनकी वैष्णव भक्ति का पद है—

भाई रे इन नैनन हरि पेखो
हरि की भक्ति साधु की संगति, सोई यह दिल लेखो
चरन सोई जो नचत प्रेम से कर सोई जो पूजा
सीस सोई जो नवै साधु के, रसना और न दूजा

वहाँ उनका निर्गुणमतवाद इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है—

जोग जग्य ते कहाँ सरै, तीरथ ब्रत दाना
कोटि गऊ जो दान दे, नहिं नाम समाना
ओसै प्यास न भागिहै, भजिये भगवाना
एकै मन एकै दासा, एकै ब्रत धरिये
नामदेव नाम जहाज है, भवसागर तरिये

नामदेव के समय में ही जन-भावना में निर्गुण और सगुण का किस प्रकार मेल हो गया था, किस प्रकार घट-घटवासी के प्रति प्रेम-भावना प्रसारित हो रही थी, किस प्रकार उसका आधार वेदान्त था, ये बातें इस उद्धृत पद से स्पष्ट हो जाती हैं—

एक अनेक व्यापक पूरक, जित देखौं तित सोई
माया चित्र बिचित्र बिमोहित, बिरला बूझै कोई
सब गोबिंद है सब गोबिंद है, गोबिंद बिनु नहिं कोई
सूत एक मनि सत्तसहस जस, ओत-पोत प्रभु सोई
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल ते भिन्न न होई
यह प्रपंच परब्रह्म की लीला, बिचरत आन न होई
मिथ्या भ्रम अरु स्वप्न मनोरथ, सत्य पदारथ जाना
सुकिरत मनसा गुरु उपदेशी, जागत ही मनमाना
कहत नामदेव हरि की रचना, देखो हृदय बिचारी
घट-घट अन्तर सर्व निरंतर, केवल एक मुरारी

नामदेव के बाद त्रिलोचन का नाम आता है, इनके कुछ पद आदि ग्रंथ में संग्रहीत हैं। उनके बाद रामानन्द (जन्म सन् १२९९) आते हैं। रामानन्द के शिष्यों ने ही निर्गुण भावना को उत्तर भारत में प्रचलित किया, अतः उनके सिद्धांत जानना आवश्यक हैं। रामानन्द राम के उपासक थे। आदि ग्रंथ में उनका एक पद हनुमान की विनय में भी है। अतः वह सगुणोपासना को निन्दनीय नहीं समझते। परन्तु उसी ग्रन्थ में उनका जो दूसरा पद है उससे उनका निर्गुण निराकार की उपासना में भी विश्वास प्रगट होता है—

कस जाइये रे घर लायो रंग
मेरा चित न चलै मन भायो पंग
एक दिवस मन भई उमंग
घासे चोआ चन्दन बहु सुगंध
पूजन चली ब्रह्म ठाँय
सो ब्रह्म बतायो गुरु मंत्रहि माँहि
जहँ जाइये तहँ जल परवान
तू पूर रह्यो है सब समान
वेद पुरान सब देखे जोय
उहाँ तो जाइये जो इहाँ न होय
सतगुरु मैं बलिहारी तोर
जिन सफल निकल भ्रम काटे मोर
रामानंद स्वामी रमत ब्रह्म
गुरु का सब्द काटे कोटि करम

रामानन्द के शिष्यों में हमें कई की रचनायें प्राप्त हैं। उनके सहारे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि रामानन्द सगुण और निर्गुण भक्ति-धारा के संगम पर खड़े हैं। उनका झुकाव निर्गुण धारा की ओर ही है। उनके व्यक्तित्व और उनके जाति-पाँति विरोध ने उनके चारों ओर ऐसे व्यक्तियों को इकट्ठा कर दिया जो सभी वर्णों के थे—अधिकांश बहिष्कृत वर्णों के—परन्तु थे बड़े प्रतिभाशाली। इनके व्यक्तित्व और इनकी काव्य-प्रतिभा ने शीघ्र ही निर्गुण सन्त मत को सारे उत्तरी भारत का सामान्य धम बना दिया। निश्चय ही वैष्णव सगुण भक्ति-धारा आचार्यों, महात्माओं और सवर्णों का बल पाकर चलती रही; परन्तु १६वीं शताब्दी तक उसका निर्गुण भक्ति-धारा के सामने निर्बल बना रहना पड़ा। १६वीं शताब्दी में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने और महात्मा तुलसीदास के व्यक्तित्व और प्रचार के कारण

सगुण भक्ति-धारा अधिक प्रबल पड़ गई और उसी समय से संत कवियों को बराबर प्रभावित करती रही। प्रवर्ती संतों की रचनाओं में यह प्रभाव स्पष्ट है।

रामानन्द के शिष्यों में सदना, धन्ना, रैदास, पीपा, सैन और कबीर की रचनायें हमें प्राप्त हैं इनमें कबीर का साहित्य प्रमुख है; परन्तु इस सब साहित्य में मौलिक रूप से एक ही प्रकार की भावनायें मिलती हैं—

नृप कन्या के कारने, एक भयो भेषधारी
कामारथी सुवारथी, वाकी पैज सँवारी
तब गुन कहा जगत-गुरा, जो कर्म न नासै
सिंह सरन कत जाइये, जो जबुक ग्रासै
एक बूँद जल कारने, चातक दुःख पावै
प्रान गये सागर मिलै, पुनि काम न आवै
प्रान जो थके थिर नहीं, कैसे बिरमावो
बूड़ि मुए नौका मिलै, कहु काहि चढ़ावो
मैं नाहीं कछु हौं नहीं, कछु आहि न मोरा
औसर लज्जा राख लेहु, सदना जन तोरा

(सदना)

भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने तनु मनु धनु नहीं धीरे
लालच बिखु काम लुबध राता मन बिसरे प्रभु हीरे
बिखु फल मीठ लगे मन बउरे चार बिचार न जान्या
गुनते प्रीति बढ़ी अनभाँती जनम मरन फिर तान्या
जुगति जानि नहि रिदै निवासी जलत जाल जम फंद परे
बिखु फल संचि भरे मन ऐसे परम पुरख प्रभु मन बिसरे

ग्यान प्रवेसु गुरहि धन दीया ध्यानु मानु मन एक भये
प्रेम भगति मानी सुख जान्या त्रिपति अघाने मकति भये
जोति समाय समाने जाकै अछली प्रभु पहिचान्या
धन्नै धन पाया धरणीधर मिली जनसंत समान्या
(धन्ना)

देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला
हे रे कलाली तैं क्या किया, सिरका सातैं प्याला दिया
कहै कलाली प्याला देऊँ, पीवनहारे का सिर लेऊँ
चन्द सूर दोउ सनमुख दाई, पीवै प्याला मरे न कोई
सहज सुन्न मैं भाठी सखै, पीवै रैदास गुरुमुख दखै
(रैदास)

धूप, दीप, घृत साजि आरती वारने जाऊँ कमलापती
मंगला हरि मंगला नित मंगला राजा राम राय को
उत्तम दियरा निरमल बाती, तुहीं निरंजन कमलापाती
राम भगति रामानन्दु जानै, पूरन परमानन्द बखानै
मदन मूरति भय तारि गुविन्दे, सैन भणय भजु परमानन्दे
(सैन)

काया देवा काया देवल जंगम जाती
काया धूप दीप नैवेदा काया पूजौं पाती
काया बहु खड खोजते नवनिद्धी पाई
न कछु आइबो न कछु जाइबो राम की दोहाई
जो ब्रह्मण्डे सोई पिंडे जो खोजे सो पावे
पीपा प्रणवै परमतत्तु है सतगुरु होय लखावे
(पीपा)

कबीर के समय में ही निर्गुणमतवाद सारे उत्तर भारत में जड़ जमा चुका था। रामानन्द और उनके शिष्य कर्मठ व्यक्ति थे। उनके

व्यक्तित्व के प्रभाव ने उस मतवाद को सार्वजनिक रूप देने में बड़ी सहायता की होगी। मध्ययुग संतों और महात्माओं की बड़ी-बड़ी यात्राओं का युग था। विचारों का आदान-प्रदान बहुत कुछ चमत्कारों की कथाओं पर आश्रित था। परन्तु उस समय भी विचार बड़ी शीघ्रता से भारतवर्ष के एक ओर से दूसरी ओर तक पहुँच जाते थे।

पंजाब सबसे पहले मुसलमान सूफियों का केन्द्र हो गया था। इनके प्रभाव में उसकी जनता की एक बड़ी संख्या ने मत-परिवर्तन कर लिया। जब निर्गुणवाद ने पूर्वी हिन्दी प्रदेश में सिक्का जमा लिया तो पश्चिम के हिन्दू संत उसकी ओर आकर्षित हुए। इनमें सबसे प्रथम नानक हैं। इन्होंने सूफी और निर्गुण मतवादों को एक केन्द्र पर लाकर नानकपंथ की नींव डाली। साथ ही उन पर मुसलमान एकेश्वरवाद का भी प्रभाव था। परन्तु हम देखते हैं कि शीघ्र ही निर्गुण सम्प्रदाय में निराकारोपासना और एकेश्वरवाद संबंधी सिद्धान्त शिथिल हो गये। धीरे-धीरे सामान्य हिन्दू मत का प्रभाव बढ़ा। नानकपंथ के बाद के गुरुओं की रचनायें उत्तरोत्तर हिंदू भावना से ओत-प्रोत होती गई हैं। यहाँ तक कि औरंगजेब के समय में गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्ख पंथ को लगभग शतांश हिंदू रूप दे दिया। हमें यह समझना चाहिए कि परवर्ती निर्गुण पंथ को सगुण भक्ति और हिंदू पुनरुत्थान ने महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। मुसलमानों के अत्याचारों के कारण संतनामी और सिक्ख साधारण हिंदू भावना के अधिक निकट आते गये जिससे वे अत्याचारी मुसलमानों से सामूहिक मोर्चा ले सकें।

नीचे हम कुछ सिक्ख संतों की रचना उद्धृत करते हैं। इनके मूल में भी वही भावनायें मिलेंगी जो अन्य संतों के काव्य में प्रतिष्ठा पा रही हैं।

१. हौं कुरबाने जाउँ पियारे, हौं कुरबाने जाउँ
हौं कुरबाने जाउँ तिन्हाँ दे लैन जो तेरा नाउँ
लैन जो तेरा नाउँ तिहाँ दे, हौं सद कुरबाने जाउँ
काया रंगन जो थिये प्यारे, पाइये नाउँ मजीठ
रंगन वाला जे रंगे साहिब ऐसा रंग न डीठ
जिनके चोलड़े रतड़े प्यारे कंत तिहाँ के पास
धूड़ तिहाँ की जे मिले जी को, नानक की अरदास

२. काहे रे बन खोजन जाई
सर्वनिवासी सदा अलेपा तोही संग समाई
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है मुकर माहिं जस छाई
तैसे ही हरि बसै निरंतर घट ही खोजो भाई
बाहर भीतर एकै जानो यह गुरु ज्ञान बताई
जन नानक बिन आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई

३. पवणु गुरु पाणी पिता माता धरति महत्तु
दिवस रात दुइ दाई दाया खेलै सकल जगत्तु
चंगि याइयाँ बुरि याइयाँ बाचै धरमु हदूरि
करनी आपो आपणी के नेड़े के दूरि
जिन्नी नाम ध्याइया गये मसक्कति घालि
नानक ते मुख उज्जले केती छुट्टी नालि

(नानक)

जा सुख ता सहु रागियो दुख भी सँभाले ओइ
नानक कहै सियाणीये यों कंत मिलावा होइ

(अंगद)

हौं क्या सालाही किरम जतु बड्डी तेरी बडियाई
तू अगम दयालु अगम्मु है आपि लेहि मिलाई
मैं तुझ बेला को नहीं, तू अँति सखाई

जो तेरी सरणागती तिन लेहि छुड़ाई
नानक के परवाहु है किस तिल न तमाई
(गुरु रामदास)

गावहु राम के गुण गीत
नाम जपत परम सुख पाइये आवा गवणु मिटै मेरे मीत
गुण गावत होवत परगास, चरण कमल महँ होय निवास
सत संगति महँ होइ उधार, नानक भव जल उतरिय पार
(गुरु अर्जुन)

प्रानी नारायण सुधि लेह
छिनु छिनु औधि घटै निसि बासरु बृथा जात है देह
तरुनापो बिखियन स्यो खोये बालापन अज्ञाना
बिरध भयो अजहू न समझै कौन कुमति उरझाना
मानुस जन्म दियो जेहि ठाकुर सो तै क्यों बिसरायो
मुकति होनि नर जाके सुमिरे निमख न ताको गायो
माया को मदु कहा करतु है संग न काहू जाई
नानक कहत चेतु चिन्तामणि होइ है अंत सहाई
(गुरु तेगबहादुर)

कबीर के बाद संत काव्य में दादू का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। भाषा और भाव दोनों के विकास की दृष्टि से दादू साहित्य का अध्ययन अवश्य हो जाता है।

दादू का साहित्य भी साखियों और शब्दों में है। विषय लगभग वही है जो अन्य संत कवियों के हैं परन्तु काव्य में माधुर्य और सहजानुभूति कबीर के काव्य से भी अधिक है। उसमें उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार और भाषा का असमानत्व नहीं मिलेगा यही कारण है कि दादू के कितने ही पद तन्मयता और भाव-प्रकाशन की उत्कृष्टता में कबीर के पदों से भी ऊपर उठ गये हैं:

परन्तु उन्हीं कारणों से उनके विरह के पदों में निर्गुण सत्ता का रूप अत्यंत स्थूल हो गया है जिससे उसमें अनायास ही सगुणत्व का आरोप हो जाता है। हम देखते हैं कि निर्गुण काव्य की निर्गुण भावना शीघ्र ही सगुण भक्ति-काव्य-भावना के समतल पर आ जाती है, उसके कई कारण हैं। संतों का "राम" का निर्गुण परिभाषा में प्रयोग एक भूल थी। साधारण जनता राम को अवतार समझती थी। रामभक्ति के प्रचार के साथ "राम" का निर्गुण रूप शीघ्र ही लुप्त हो गया। कम से कम वह संत सम्प्रदायों से बाहर ग्राह्य नहीं हुआ। स्वयं संत-सम्प्रदाय में "राम" द्विअर्थक रूप से प्रयोग में आने लगा—

१. साधारण सगुणोपासक जन-भावना का प्रभाव।

२. सगुण भक्ति-धारा का प्रभाव।

३. संतों की विरह की तन्मयता ने उनके निर्गुण आराध्य को सगुणवाद के धरातल पर पहुँचा दिया। स्वयं कबीर के काव्य में हमें अपरोक्ष में रूप-गुण-स्थापन का भ्रम होने, लगता है।

४. मूल संतभावना स्वयं औपनिषदिक निर्गुण और पौराणिक सगुण मतों का विचित्र मिश्रण था। दादू के अनेक पदों को सगुणोपासक भक्त कवियों के पदों के सम्मुख रक्खा जा सकता है, जैसे—

हमारे तुमहीं हौ रखपाल
तुम बिन और नहीं कोउ मेरे भौ दुख मेटणहार
बैरी पंच निरूष नहिं न्यारे रोकि रहे जम काल
हा जगदीस दास दुख पावै स्वामी करो संभाल
तुम बिन राम दहैं ये दुंदर दसौं दिसा सब काल
देखत दीन दुखी क्यों कीजे तुम हौ दीन दयाल
निर्भय नाँव हेत हरि दीजे दरसन परसन लाल
दादू दीन लीन करि लीजे, मेटहु सबै जञ्जाल

हरि रस माते मगन भये
सुमिर सुमिर भये मतवाले, जामण मरण सब भूलि गये
निर्मल भगति प्रेम रस पीवैं आन न दूजा भाव धरैं
सहजैं सदा राम रंगि राते मुकति बैकुंठै कहा करैं
गाइ गाइ रसलीन भये हैं, कछू न माँगै संत जनाँ
और अनेक देहु दत आगै आन न भावै राम बिनाँ
इकटग ध्यान रहैं लै लागे छाकि परे हरि रस पीवैं
दादू मगन रहैं रसमाते, ऐसैं हरि के जन जीवैं

मूल अध्यात्मतत्त्व के प्रति आत्मा की तीव्र अनुभूति को व्यक्त करने के लिए संतों ने पुरुष-स्त्री के लौकिक प्रेम को प्रतीक के रूप में ग्रहण किया परन्तु उनकी तन्मयता के कारण प्रतीक रूपक मात्र न रह सका, वही सब कुछ हो गया। दादू की प्रेम और विरह की कविताएँ बड़ी मार्मिक हैं—

बाला सेज हमारी रे, तूं आव हौं वारी रे
हौं दासी तुम्हारी रे ॥ टेक ॥
तेरा पंथ निहारूँ रे, सुन्दर सेज सँवारूँ रे
जियरा तुम पर वारूँ रे
तेरा अँगना पेखौं रे तेरा मुखड़ा देखौं रे
तब जीवन लेखौं रे
मिलि सुखड़ा दीजै रे, यह लाहड़ा लीजै रे
तुम देखें जीजै रे
तेरे प्रेम की माती रे तेरे रँगड़े राती रे
दादू वारणौं जाती रे

अजहूँ न निकसै प्राण कठोर ॥ टेक ॥
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर
चारि पहर चारौं जुग बीते, रैन गँवाई मोर

अवधि गई अजहूँ नहिं आए, कतहुँ रहे चितचोर
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर
दादू ऐसे आतुर विरहणि जैसे चंद चकोर

सुन्दरदास ने संत काव्य में भाषा और कवित्व की श्रेष्ठता को भी स्थान दिया। संत कवियों में वही पहले हैं जिन्होंने प्रचलित कवित्त छन्द का प्रयोग किया है और काव्य-गुण एवं अलंकारों की भी एकदम उपेक्षा नहीं की है। काशी-निवास, संस्कृत साहित्य से परिचय एवं सगुण भक्तों के सत्संग के कारण सुन्दर के काव्य में पौराणिक हिन्दू धर्म-दर्शन भी पर्याप्त मात्रा में उपस्थित है, परन्तु साथ ही उसमें संतमत के लगभग सभी अंगों पर ज्ञानमूलक विवेचनात्मक प्रकाश भी डाला गया है. अन्य संत कवियों के काव्य में आत्मानुभूति का आधार अधिक है; अतः उनमें संतमत की वैज्ञानिक परीक्षा में सहायता नहीं मिलती, परन्तु सुन्दर का काव्य इस दिशा में बड़ी सहायता कर सकता है। उदाहरण के लिए नीचे उद्धृत पद से संत मत का आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है—

प्रीति सी न पाती कोऊ, प्रेम से न फूल और
चित्त सों न चंदन, सनेह सों न सेहरा
हृदय सों न आसन, सहज सों न सिंहासन
भाव सों न सेज और सून्य सों न गेहरा
सील सो न स्नान अरु ध्यान सों न धूप और
ज्ञान सों न दीपक, अज्ञान तम केहरा
मन सी न माला कोऊ, सोह सो न जाप और
आतम सों देव नाहिं, देह सों न देहरा

धरनीदास की कविता में दादू की कविता जैसी कोमलता के दर्शन होते हैं; उतनी तन्मयता है—

हरिजन वा मद के मतवारे
जो मद बिना काठि बिनु भाठी बिनु अग्निहि उदगारे
बास अकास धराधर भीतर बूंद झरे झलकारे
चमकत चंद अनन्द बढ़ो जिव शब्द सघन निरुवारे
बिनु कर धरे बिना मुख चाखे बिनहिं पियाले ठोर
ताखन स्यार सिंह को पौरुख जुत्थ गजंद विडोर
कोटि उपाय करें जो कोई अमल न होत उतारे
धरनी जो अलमस्त दिवाने सोइ सिरताज हमारे

कंत दास बिनु बावरी
मो तन व्यापै पीर पीतम को मूरुख जानै आखरी
पसरि गयो तरु प्रेम साखा सखि बिसरि गयो चित चावरी
भोजन भवन सिंगार न भावै, कुल करतूनि अभाव री
खिन खिन उठि उठि पंथ निहारो बारबार पछिताव री
नैनन अंजन नींद न लागे, लागै दिवस विभावरी
देह दसा कछु कहत न आवै, जस जल ओछे नाव री
धरनी धनी अजहुँ पियन पाओ, तौ सहजै अनंद बधाव री

इस समय तक संत-काव्य प्रचुर मात्रा में तैयार हो गया था। भाषा और विषय के सम्बन्ध में मौलिकता लाना कठिन था। अतः कुछ संत कवियों ने छंद और रस के सम्बन्ध में नई उपज की चेष्टा की। हम देख चुके हैं कि सुन्दरदास ने कवित्त और सवैया छंदों के प्रयोग किये। उनके काव्य का बहुत बड़ा भाग इन छंदों में है। पलटूदास ने अरिल, झूलना, रेखता आदि छंदों में बहुत कुछ कबीर के भावों को उसी शैली में बदल कर रख दिया। उनकी कुण्डलिया प्रसिद्ध है।

कुण्डलिया
पिय को खोजन मैं चली आपुइ गई हिराय
आपुइ गई हिराय कवन अब कहै सदेसा

जेकर पिय में ध्यान भई वह पिय के भेसा
आगि माँहि जो परे सोऊ अगनी ह्वै जावै
भृंगी कीट को मेटि आपु सम लेइ बनावै
सरिता बहि के गई सिंधु में रही समाई
सिव सक्ती के मिले नहीं फिर सक्ती आई
पलटू दिवाले कह कहा मत कोउ भाँकन जाय
पिय को खोजन मैं चली आपुइ गई हेराय

रेखता

नाचना नाचु तो खोलि घूँघट कहै
खोल के नाचु संसार देखै
खसम रिझाव तो ओट को छोड़ि दे
मर्म संसार कौ दूरि फेंकै
लाज किसकि करै खसम से काम है
नाचु भरि पेट फिर कौन छेंकै
दास पलटू कहै तुहीं सुहागिनी
सोव सुख सेज तू खसम एकै

जगजीवन साहिब के काव्य में वैष्णव काव्य-धारा की प्रमुख विशेषताएँ—भगवान के प्रति आत्मसमर्पण और आत्मग्लानि—इतनी अधिक मात्रा में मिलती है कि उनका काव्य वैष्णव काव्य-साहित्य में विशेष कर तुलसी सूर के विनय पदों में बड़ी सरलता से खपाया जा सकता है फिर भी इन्होंने संत काव्य के लगभग सभी विषयों पर लिखा है और इनके काव्य की मूल धारा कबीर से अधिक भिन्न नहीं है। यह अवश्य है कि सामूहिक रूप से इनका काव्य अन्य संत कवियों के काव्य की अपेक्षा वैष्णव काव्य के अधिक निकट पड़ता है— .

हमतें चूक परत बहुतेरी
मैं तो दास अहौं चरनन का हमहूँ तन हरि हेरी

बाल ज्ञान प्रभु अहै हमारा झूठ साँचे बहुतेरी
सो औगुन गुन का कहौं तुमते भवसागर तें निबेरो
भव तें आयी तव सरने कहत अहो अस टेरी
जगजीवन की विनती सुनिये रखौं पत जन केरी

भीखा साहिब के काव्य में भाव की दृष्टि से कोई नूतनता नहीं है, परन्तु अनेक पदों में भाव-प्रकाशन की न्यूनता अवश्य है। कहीं-कहीं शब्द-चित्र बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। हम यह नहीं कह सकते कि उनके द्वारा निर्गुण की अनुभूति कितनी सचाई तक अभिव्यक्त होती है, परन्तु काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से ऐसे पद संत काव्य के नीरस पदों में एक सुन्दर वैभिन्न उपस्थित करते हैं: उदाहरण के लिए अनहद शब्द का चित्रण इन शब्दों में किया गया है—

धुनि बजत गगन महँ बीना, जँह आपु रस रस भीना
भेरी ढोल संख सहनाई, ताल मृदंग नवीना
सुर जहँ बहुतै भाँज सहज उठि परत है ताल प्रवीना
बाजत अनहद नाद गहागह, धुधुकि धुधुकि सुर भीना
अँगुरी फिरत तार सातहुँ पर, लय निकसत भिन भीना
पाँच पचीस बजावत गावत, निर्त चारु छबि दीन्हा
उघटत तननना धि ना धिना, कोउ ताथेइ थेइ तत् कीन्हा
बाजत ताल तरंग बहु, मानो जंत्री जंत्र कर लीन्हा
सुनत सुनत जिव थकित भयो, मानो ह्वै गयो सबद अधीना
गावत मधुर चढ़ाय उतारत, रुनझुन रुनझुन धूना
कटि किंकिम पगु नूपुर की छबि सुरति निरति लौलीना
आदि सबद ओंकार उठतु है, अटुट रहत सब दीना
लागी लगन निरंतर प्रभु सो, भीखा जल मन मीना

उन्नीसवीं शताब्दी के संत-काव्य में कोई मौलिकता नहीं है। उसको साम्प्रदायिक रूप में भाव और भाषा की प्राचीन

परिपाटी से जकड़ दिया है। जिस तरह अन्य प्राचीन काव्य-धाराओं में। उस तरह यहाँ भी हम नवीनता का नितान्त अभाव पाते हैं। वही पिष्ठपेषण चरणदास का काव्य सभी कोटि में आता है। सतगुरु ने धीरे-धीरे वही स्थान प्राप्त कर लिया है जो सगुण काव्य में सगुण ब्रह्म और उसके अवतार का स्थान है। उनकी भी एक विशिष्ट धारा है। चरणदास कहते हैं—

सतगुरु निजपुर धाम बसाये
जितके गये अमर ह्वै बैठे भव जल बहुरि न आये

हिन्दू पौराणिक भावना ने भी स्थान पा लिया है। परन्तु सम्प्रदाय सकीर्णता के सहारे प्राचीन निर्गुण भावना उसी दृढ़ता से चल रही है जिस दृढ़ता का परिचय उसने कबीर के काव्य में दिया था।

दयाबाई और सहजोबाई चरणदास की शिष्याएँ थीं। सहजो-बाई के काव्य संग्रह में सगुण भावना के भी कुछ पद मिलते हैं। जैसे यह पद—

मुकुट लटक अटकी मन माहीं
निरतत नटवर मदन मनोहर कुंडल झलक पलक बिथुराई
नाक बुलाक हलत मुक्ताहल होठ मटक गति भौंह चलाई
ठुमक ठुमक पग धरत धरनि पर, बाहँ उठाय करत चतुराई
झुनक झुनक नूपुर झनकारत, तताथेई थेई रीझाइ रिझाई
चरनदास सहजा हिये अंतर, भवन करौ जित रहौ सदाई

दोनों कवियित्रियों में गुरु-भावना अत्यन्त बलवती है—

गुरु बिनु ज्ञान ध्यान नहीं होवै
गुरु बिनु चौरासी मग जोवै
गुरु बिनु रामभक्ति नहीं जागै
गुरु बिनु असुभ कर्म नहिं भागै

गुरु ही दीन दयाल गुसाई
गुरु सरनै जो कोई जाई
पलटै करै काग सूँ हसा
मन की मेटत है सब संसा
गुरु है सब देवन के देवा
गुरु की कोउ न जानत भेवा
करुनासागर कृपा - निधाना
गुरु है ब्रह्म रूप भगवाना

(दयाबाई)

राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ
हरि ने जन्म दियो जग माहीं। गुरु ने आवागमन छुटाहीं
हरि पाँच चोर दिये साथा। गुरु ने लई छुड़ाय अनाथा
हरि ने कुटुम्ब-जाल में गेरी। गुरु ने कटता ममता बेरी
हरि ने रोग-सोग उरझायौ। गुरु ने आतमरूप लखायौ
हरि ने मोसूँ आप छिपायो। गुरु दीपक दै ताहि दिखायौ
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाये। गुरु ने सब ही भर्म मिटाये
चरनदास पर तन मन वारूँ। गुरु को न तजूँ हरि को तजि डारूँ

(सहजोबाई)

इन संत कवियों के अतिरिक्त अनेक संतों की वृहद् वाणियाँ प्राप्त हैं। इनमें संत-साहित्य के विषयों की अनेक पदों में अनेक रूपों से पुनरुक्ति मिलेगी। यह विश्वास करना कठिन है कि सभी संत एक ही आध्यात्मिक स्तर पर उठे थे और उनके अनुभव एक ही प्रकार के थे; परन्तु कदाचित् संत-काव्य की बँधी परिपाटी के कारण सब संतों ने एक ही प्रकार से आत्मानुभूति प्रगट की है। इस आत्मानुभूति में सच्चाई कितनी है यह जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। इन अन्य कवियों में यारी साहब, गुलाल साहब, बुल्ला साहब, केशवदास, दरिया

साहब (१. मारवाड़वाले, २. विहार वाले) दूलनदास, गरीबदास और काष्ठजिह्वा स्वामी मुख्य हैं। इन कवियों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि किस प्रकार कालांतर में संतकाव्य में सूफी सिद्धांत और रामभक्ति (सगुण) मल गये हैं।

सुन्न के मुकाम में बेचून की निसानी है
जिकिर रूह सोई अनहद वानी है
अगम के गम्म नाहीं झलक पिसानी है
कहै यारी आपा चीन्हैं सोइ ब्रह्म ज्ञानी है

(यारी)

जब गज अरध नाम गुहरायो
जब लगि आवै दूसरा अच्छर, तब लगि आपुहि धायो
पाँय पियादे भी करुनामय, गरुणासन बिसरायो
धाय गयंद गोद प्रभु लीन्हों, आपनि भक्ति दिढ़ायो
मीरा को विष अमृत कीन्हों, बिमल सुजस जग ध्यायो
नामदेव हित कारने प्रभु तुम, मितेक गाय जियायो
भक्त हेत तुम जुग जुग जनमेउ, तुमहिं सदा यह भायो
बलि बलि दूलनदास नाम की, नामहिं ते चित लायो

(दूलनदास)

मतवालों के महल की सूफी क्या पावै
अरस खरदनी खीर है सतगुरु बतलावै
सुन्न दरीबेक हाट है जहँ अमृत चुवता
ज्ञानी घाट न पावहीं खाली सब करिता
ठाँ बिकै नहिं मोल कूँ जो तुलै न तौला
कूँची सब्द लगाय कर सत गुरल पट खोला
फूल झरै भाठी सौं जहँ फिरैं पियाले
नूर महल बेगम पुरा घूमे मतवाले

त्रिकुटी सिंघ पिछान ले तिरवेनी धारा
बेड़े बाट विहंगमी उतरै भौ पारा
अठसठ तीरथ ताल हैं उर तरवर माहीं
अमरकंद फल नूर के कोइ साधू खाहीं

(गरीबदास)

बसो यह सिय रघुबर को ध्यान
स्यामल गौर किसोर बयस दोउ जे जानहुँ की जान
लटकत लट लहरत स्तुति कुण्डल गहनन की झनकान
आपसु में हँसि हँसि के दोऊ खात खियावत पान
जहँ बसन्त नित मह मह महकत लहरत लता वितान
विहरत दोउ तेहि सुमन बाग में अलि कोकिला कर गान
ओहि रहस्य सुख रस को कैसे जानि सकै अज्ञान
देवहु की जहँ मति पहुँचत नहिं थकि गये वेद पुरान

(काष्ठजिह्वा स्वामी)

जिन लोगों ने संत-काव्य को विदेशी प्रभाव से दूषित समझा है, उन्होंने सत्य की बड़ी दूर तक अवहेलना की है। हम यह तो देख ही चुके हैं कि किस तरह निर्गुण भावना की परम्परा उपनिषदों के समय से चली आती है, किस प्रकार रूपों के पीछे अव्यक्त सत्ता की स्थापना की गई, कैसे अंतस्साधना को उसकी प्राप्ति का साधन माना गया है। यह धारा ही बौद्ध साधकों (सिद्धों) और नाथपंथियों में होती हुई अधिक बलवती रूप में संत-काव्य में प्रकाशित हुई है।

अंतस्साधना पर बल संत-धारा की मूल भावना समझी जानी चाहिये। जिस युग में रामानन्द, कबीर आदि हुए उस युग में आचार्य और सवर्ण संत-महात्मा वैष्णव पुनुरुत्थान की ओर सचेष्ट थे। भागवत और रामायणों को लेकर राम और कृष्ण

के अवतारों की पूजा चली। देवी-भागवत आदि के आधार पर आदि शक्ति के रूप में चंडी आदि देवियों की कल्पना की गई। निम्न वर्गों के लोग सामाजिक दृष्टि से अस्पर्श्य थे, अतः सवर्णों के मन्दिरों और पूजा स्थानों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। उनकी जाग्रति ने जाति-पाँति और छुआछूत द्वारा स्थापित वर्ण-भावना के विरोध का रूप धारण किया।

वास्तव में संत काव्य के कई पक्ष हैं :—(१) उसमें संतों की साधना व्यक्त हुई है। अनेक स्थानों पर इसने अध्यात्मवाद या रहस्यवाद का रूप ग्रहण कर लिया है। (२) साधना के आरम्भ में साधक की अन्तःकरण शुद्धि के लिए कुछ नैतिक गुणों का संग्रह आवश्यक बतलाया गया है। ये गुण हैं—अहिंसा, संतोष, दया, क्षमा, शील, सार-संग्रह, सत्य भाषण, कामनी-कंचन, त्याग, सत्संग, विचार-शुद्धि, जीव-दया। संत साहित्य में इन सब के सम्बन्ध में सुन्दरतम विचार मिलेंगे। (३) साधना के मार्ग में जो बाधायें हैं उनसे युद्ध। (४) लौकिक पक्ष में मूर्ति-पूजा, वर्णाश्रम-संस्था, जाति-विभेद, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, श्राद्ध, नमाज़ आदि वाह्याचार और माला कंठी आदि वाह्य आडंबर का विरोध। इनके साथ भक्ति का सम्मिश्रण है। संत निर्गुण के उपासक हैं परन्तु उनका निर्गुण बौद्ध साधकों के शून्य से पृथक है। उन्होंने ज्ञान को भगवत् प्राप्ति का पहला चरण माना है। परन्तु ज्ञान से परम शक्ति को जानने के बाद उसके पास पहुँचने के लिए भक्ति ही साधन है। यह भक्ति उतनी तन्मयता प्रधान नहीं है जितनी कथित भक्तों की भक्ति, परन्तु उसका रूप बहुत भिन्न भी नहीं है। इसी के कारण संतों के निर्गुण में रूप-गुण का अस्पष्ट आरोप हो जाता है।

सन्तों के रहस्यवाद को समझने के लिए हमें पहले यह समझ लेना होगा कि उसकी रहस्यमयता के दो कारण हैं। एक, उनके

आराध्य का निर्गुण होना; दूसरे, उनकी भक्ति-भावना का अरूप के प्रति अर्पण होने के कारण अस्पष्ट ही रह जाना, विशेषतः जहाँ जीवात्मा-परमात्मा के मिलन अथवा मिलनानन्द का वर्णन है वहाँ सन्त भावों को केवल प्रतीकों में ही अभिव्यक्त कर सके हैं। इनका रूप उलटबासियाँ हैं, दूसरा रूप प्रकृति के व्यापार से लिये हुए प्रतीकों के प्रयोग का है।

सन्तों को अपने काव्य द्वारा अपने उद्देश्यों में कितनी सफलता प्राप्त हुई यह विचारणीय है। वे ऊँचे दरजे के साधक थे और उनकी वाणी उनके आध्यात्मिक साधनों को भली भाँति प्रकाशित कर सकी है। आध्यात्मिक मिलन और वियोग के इतने सुन्दर चित्र इतनी सादगी के साथ संसार के किसी साहित्य में भी नहीं मिलेंगे। उन्होंने जिन शाश्वत, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के संग्रह का आदेश किया है, वे प्रत्येक समाज के लिए प्रत्येक समय उपादेय हैं। उन्होंने साधना के बाह्य उपचारों की अवहेलना की। यह अधिकांश में उनकी सामाजिक स्थिति का फल था। उन्होंने समझ लिया था कि इन बाह्योपचारों ने आडम्बरों का रूप ग्रहण कर लिया है और यह जनता की जीवन शक्ति का शोषण कर रहे हैं। धर्म के नाते वर्ग बने जा रहे हैं। अतः उन्होंने बाह्योपचारों का विरोध कर उन मूल नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों की ओर संकेत किया जो सब धर्मों में समान रूप से प्रशंसित थे। वह युग धार्मिक संघर्षों का युग था। दो धर्म प्रधान संस्कृतियाँ टक्कर ले रही थीं। अतः दोनों जातियों को एकसूत्र में बाँधने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें समान धरातल पर लाया जाय। सन्तों ने यह बात चार प्रकार से की। उन्होंने पूजाराधना के बाह्योपचारों और विधिविधानों का निषेध एवं खंडन किया, समान रूप से आदर पाये हुये नैतिक तत्त्व पर बल दिया, पारिभाषिक शब्दों की एकता की घोषणा की और

अन्ततः एक सामान्य भक्ति-पथ का निरूपण किया। इस सामान्य भक्ति-पथ को हम निर्गुण भक्तिमार्ग का नाम दे सकते हैं, जिसमें एक ओर सूफियों के सिद्धांतों को स्थान मिला है और दूसरी ओर अद्वैत के आधार पर प्रचलित हिन्दू भक्ति-वाद (वेदांत भक्ति) को। वास्तव में इन दो में कोई भेद भी नहीं था। धार्मिक एकता उत्पन्न करने का ध्येय सफल नहीं हुआ। कारण यह था कि हिन्दू विजित थे, मुसलमान विजेता। मूल में राजनैतिक विरोध भी काम कर रहा था। शताब्दियों की संकीर्णता के कारण हिंदुओं ने आगे बढ़ना छोड़ दिया था। एक प्रकार से वे नवागन्तुकों का सामाजिक बहिष्कार किए हुए थे। सच तो यह है कि परिस्थिति इतनी सरल नहीं थी, जितनी संतों ने समझी थी। परतु इस असफलता के कारण उनके प्रयत्नों की महत्ता कम नहीं होती। इसी प्रकार अवर्ण-सवर्ण समस्या भी हल नहीं हुई। शक्ति सवर्णों के हाथ में थी। अधिकांश संत अवर्णों में हुए। सवर्णों ने उनके सन्देशों को संदेह की दृष्टि से देखा और वर्ण-भेद मिटाने को उनकी चेष्टा का विरोध किया। वस्तुतः रामानन्द के बाद यह विरोध अत्यन्त तीव्र हो गया। उच्च वर्णों ने इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया। "हरि को भजै सो हरि का होई"— इस सिद्धांत के अनुसार अछूत संत भी उनमें सम्मान्य रहे परन्तु इस भावना को अधिक विस्तार नहीं मिल सका। प्रयत्न केवल नीचे से ऊपर की ओर हुआ। संतों के मांस-मदिरा निषेध जैसे संदेशों ने नीची जातियों को ऊपर अवश्य उठाया परंतु ऊँची जातियाँ संकीर्णता को छोड़ कर और नीचे झुक कर उनको हृदय से लगाने के लिए तैयार नहीं थीं।

जो हो, संतों का दृष्टिकोण अत्यन्त यथार्थवादी था। वे पर-मार्थ-तत्त्व के जिज्ञासु थे। भक्त थे। वैष्णव थे। वैष्णव सिद्धांतों के आधार पर उन्होंने नीची जातियों के संस्कारों को ऊपर उठाया।

हिंदू-मुसलमानों को पास लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। जीवन के सामान्य सिद्धांतों एवं नैतिक गुणों की ओर संकेत किया। स्वयम् अध्यात्म-तत्त्व को लोक-तत्त्व से बड़ा मानते हुए भी उन्होंने लोक-संग्रह की भावना रखी। उनकी तपस्या और उनकी साधना का रूप केवल वैयक्तिक ही नहीं था। यह लोकपक्ष को लेकर चलता था। शङ्कराचार्य के बाद जिस विरक्ति-वैराग्य ने समाज में उच्छृङ्खलता उत्पन्न कर दी थी, उसके विरुद्ध इन संतों ने कहा—"गृहस्थी के कर्मों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं, मन को स्वच्छ करो। वासना से लड़ कर विजय प्राप्त करो। संघर्षों से भागो नहीं। यही सहज मार्ग है। संसार से भाग जाना कायरता है।" इस प्रकार उन्होंने समाज की स्थिति को स्वीकार किया, यद्यपि अपने समय के समाज की वर्ण-व्यवस्था पर आश्रित रूप का उन्होंने विरोध भी किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि संत-काव्य के अनेक उज्ज्वल पक्ष हैं। वह केवल अध्यात्म या काव्य ही नहीं है, उसमें युग की साधना है, अपने युग की सामाजिक समस्याओं का हल करने की चेष्टा भी है।

हम देख चुके हैं कि १२-१३वीं शताब्दी में वैष्णव भक्ति का रूप बहुत कुछ निश्चित हो चला था। इस भक्ति के अनेक आराध्य देव थे। बंगाल में राधाकृष्ण और देवी की उपासना प्रचलित हो रही थी। दक्षिण में शिव-भक्ति की धारा बड़े बल से बह रही थी। गुजरात में कृष्ण और विठोबा की भक्ति पर बल दिया जाता था। सारे उत्तर भारत में राम, कृष्ण, नारायण और शिव के भक्त अपने-अपने मतों के प्रचार में लगे थे। कबीर के समय तक आते-आते वैष्णव मतवाद की भक्ति का अंग इतना विकसित हो चुका था कि उसकी उपेक्षा असम्भव थी। संतों ने अवतारवाद को ग्रहण नहीं किया। यह अवतारवाद ही वैष्णव भक्ति के मूल में था। परन्तु वे वैष्णवों की भक्ति-भावना से

प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उन्होंने वैष्णवों के राम-कृष्ण को निर्गुण अर्थों में प्रयुक्त किया और उनकी भक्ति को नया रूप दिया। कबीर दाशरथि राम में ब्रह्म या विष्णु की सत्ता को स्वीकार नहीं करते परन्तु अपने को निर्गुण राम की बहुरिया मान कर उनके प्रति उत्कट प्रेम का परिचय देते हैं—

१. निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई
अबिगति की गति लखी न जाई ॥टेक॥
चारि वेद जाके सुमृत पुराना, नौ व्याकरना मरम ना जाना
सेस नाग जाकै गरुड़ समाना, चरन कवल कवला नहिं जाना
कहै कबीर जाकै भेदै नाहीं, निज जन बैठे हरि की छाँही

२. प्यारे राम मन ही मना
कासूँ कहूँ कहन कौं नाहीं दूसर और जना ॥टेक॥

इस प्रकार संतों की निर्गुण भावना सगुण भक्ति-धारा के प्रभाव के कारण पूर्णतः शुद्ध नहीं रह सकी। यही विरोधी भावनायें—एक ओर निर्गुण, दूसरी ओर भक्ति—आलोचकों को भ्रम में डाल देती हैं और वे संत-कवियों पर अस्पष्टता का लाञ्छन लगाते हैं। वस्तुतः मध्ययुग की निर्गुण भावना को औपनिषदिक निर्गुण भावना की परिभाषा से ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता। वह निर्गुण इसी हद तक है कि उसमें अवतारवाद की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, परन्तु संतों का निर्गुण ब्रह्म अरूप, अव्यक्त होते हुए भी प्रेममय, भक्त-वत्सल और करुणार्द्र है। उसे पारिभाषिक विशेषणों से नहीं तोला जा सकता।

संतों की इस निर्गुण भक्ति-भावना में और सूफियों के इश्क में इतना अधिक साम्य था कि दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए। संतों ने अपनी साधना में सूफियों की बहुत-सी बातें अपना लीं।

उनके काव्य में, विशेषकर परवर्ती संतों के काव्य में, सूफी पारिभाषिक शब्द बड़ी स्वतन्त्रता से प्रयोग में आते हैं। इससे एक तात्कालिक लाभ तो यह है कि संतों का संदेश उस जनता में भी बड़ी शीघ्रता से पहुँच जाता था जो सूफियों को मानती थी। सच तो यह है कि सन्तों ने सूफ़ियों के सिद्धांतों का स्वीकार कर और उन्हीं की तरह प्रेम-विरह-प्रधान भक्ति का प्रचार कर सूफ़ियों का कर्म-क्षेत्र छीन लिया।

इस प्रकार हम संत-काव्य के सम्बन्ध में विचित्र परिस्थिति पाते हैं। उसमें वैष्णव नैतिक सिद्धान्त मिलेंगे, वैष्णव भक्ति-भावना मिलेगी, औपनिषदिक निर्गुणवाद मिलेगा, बौद्ध साधकों और नाथपंथियों के पारिभाषिक शब्द मिलेंगे और सूफ़ी साधकों की साधना भी दिखलाई पड़ेगी। साथ ही संतों का आत्मानुभव रहस्यवादी उक्तियों के रूप में मिलेगा। इनके अतिरिक्त मुसलमान ऐकेश्वरवादी पैग़म्बर धर्म का खंडन और ऐकेश्वरवाद और हिन्दू-मुसलिम भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण जो विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं, उनके निराकरण का प्रयत्न। सच तो यह है कि संत-काव्य अपने समय का पूरा प्रतिनिधित्व करता है।